पुष्करिणी

[पीड़ित मानवता के चीत्कार और जागरण का
कला-पूर्ण कथायें]

लेखक

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३९

प्रथम संस्करण]   [मूल्य १।)

Printed and published by
K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
ALLAHABAD.

हिन्दी-कहानी के आँगन में आज जो अनेक अगाध सागर लहराते हैं, एक दिन मेरी इस पुष्करिणी ने जब उनकी ओर देखकर हँस दिया, तब उसका यह मुक्त हास मुझे कुछ प्रगल्भ तो अवश्य प्रतीत हुआ, किन्तु उसके स्वाभाविक दर्प से मेरी आत्मा को जो अयाचित-अप्रत्याशित संतोष मिला, उसे मैं किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सका।

भ० प्र० वा०



रायसाहब पंडित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी एम्० ए० (लंदन)
सुकवि और सुलेखक, साहित्यिक समुदाय के सर्व-प्रिय पृष्ठ-पोषक और
शिक्षा-प्रसार आफ़िसर (संयुक्त-प्रान्त)

समर्पण

आदरणीय भैया साहब,

अपने पसन्द की यह एक कृति आपको भेंट करता हूँ। शायद आप कह उठें कि देने भी चले, तो पुष्करिणी। अरे भेंट ही करना था, तो किसी रत्नाकर की सृष्टि करते। किन्तु मेरी दृष्टि को क्या कीजिएगा। लोग तो गागर में सागर देखते हैं। मैंने अगर...।

हाँ, तो अब इसे स्वीकार कीजिए।

सदा आपका—

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

विषय-सूची

पुष्करिणी

निदिया लागी

कालेज से लौटते समय मैं अकसर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोज़ाना, सुबह-शाम, देख-रेख के लिए आ जाते थे। वे मझले-भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा क़द, गौर वर्ण, लम्बी नाक—ख़ूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गम्भीर भी होते, तो प्रायः मालूम यही होता कि मुसकरा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। और अवस्था? अवस्था उनकी अब पैंतालीस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मज़दूर, सब मिलाकर, कोई पचीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मज़दूरों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

एक दिन मैंने देखा, छत कूटी जा रही है। कूटनेवालों में स्त्रियाँ ही हैं, अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं; लेकिन वे ज़रा हटकर, एक कोने में, हैं। स्त्रियाँ छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है; किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता

हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह बात कैसे आती !

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गये। बोले—आ गये छोटे-भैया !

मैंने उनकी ओर देखकर ज़रा-सा मुसकरा दिया और कहा—जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।

हँसते हुए उन्होंने तब कहा—लेकिन दर-असल आप आये नहीं। आप समझते हैं कि दुनिया की नज़रों में जो आप यहाँ मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूँ कि आप पूरे सोलहआने-भर आ गये हैं ? और जो कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों, तो ?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट—बिलकुल निकट आ गये। बोले—जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कैसा था, सच जानिए, आपको देखकर जब मुझे उसकी याद आ जाती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीअत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले। लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिरि-गह्वर में—संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहाँ पहुँचकर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।

बेनीबाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाप थी,

यद्यपि अपने विमल हास से वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने कहा—आप मेरे अध्ययन की चीज़ हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ।

एक ओर चलते हुए वे बोले—अभी आपको कुछ भी नहीं मालूम हुआ है।

किन्तु बेनीबाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिए मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खड़े हो गये। वह आर्च (Arch) बनाने जा रहा था। बोले—देखो जी मिस्त्री, पत्तियाँ और फूल बनाना ही काफ़ी नहीं है। टहनी और उसमें उभड़े हुए काँटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नक़ल नक़ल है, असल चीज़ वह कभी हो नहीं सकती; किन्तु असल चीज़ की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नक़ल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नक़ल भी नक़ल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक़्क़त हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूँ; लेकिन मेरी तबीअत की चीज़ अगर तुम न बना सके, तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चलकर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गये थे। उसकी आँखों पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े ग़ौर से वह

बेनीबाबू की ओर देखने लगा; लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तब बेनीबाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके।

अब वे आँगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुँचा, तो वे बोले—आपने इस मिस्त्री की आँखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था; लेकिन उसकी आँखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कहके उसको चोट पहुँचाने, उसका अपमान करने, की चेष्टा की है; किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता, कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है? एक वह नहीं, मालूम नहीं, कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे ग़लत समझते हैं। आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहाँ-कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने इस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जानेवाली आँखें। उसने कभी मज़दूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर, मज़दूरी के अतिरिक्त, उसने दस-पन्द्रह रुपये पुरस्कार में न प्राप्त किये हों।...किन्तु इन सब बातों को

अच्छी तरह समझते हुए भी डाँटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कलाकार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।

अब बेनीबाबू घूमते-फिरते वहाँ जा पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छत कूट रही थीं। एकाएक जो उन्होंने हैटधारी हम लोगों को देखा, तो उनका गाना बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते। और कुछ नहीं, तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता। और वह संगीत भी कैसा?—एकदम असाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी नन्हीं, वैसी ही भोली!—

"निदिया लागी—मैं सोय गई गुइयाँ!"

बेनीबाबू ने खड़े-खड़े इधर-उधर देखा और कहा—देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज़ का सिलसिला बिगड़ जाय। मुगरी की आवाज़ें, सारी-की-सारी एकबारगी, एक साथ, होनी चाहिए। और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।

रामलखन बोला—सरकार, आज कैसे पूरा होगा? दिन ही कितना रह गया है!

"बको मत रामलखन! काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी पूरा नहीं होगा। समझते हो न? काम का ही दूसरा नाम पैसा है।"

रामलखन चुप रह गया।

बेनीबाबू भी चल दिये। लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाज़ें, उनकी धमक, उनकी गति और चूड़ियों की खनक और 'निदिया लागी' का स्वर अतिशय गम्भीर हो गया। मैंने बेनीबाबू से कहा—आप काम लेना ख़ूब जानते हैं।

वे हँसते-हँसते बोले—मैं जानता बहुत-कुछ हूँ छोटे-भैया, लेकिन जानना ही काफ़ी नहीं होता। ज्ञान से भी बढ़कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है। और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका।

मैंने पूछ दिया—वह क्या ?

वे बोले—सत्य का ग्रहण।

मैंने कहा—सिर्फ़ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर, कुर्सियाँ डलवाकर, बैठ गये और बोले—ये स्त्रियाँ, जो यहाँ मज़दूरी करने आई हैं, कितने सबेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी! कोई घर में अपने बच्चों को छोड़ आई है, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा हो नहीं। और काम करते-करते उनको अगर उनकी सुधि आ ही जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता उत्पन्न हो ही उठती है, तो वह भी आज की हमारी इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ़ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यही देखकर सन्तोष कर लेते हैं कि जो

स्त्री यहाँ पर मज़दूरी कर रही है, हमको सिर्फ़ उसी से मतलब है, उसी की मज़दूरी हम दे रहे हैं; किन्तु हम यह सोचने की ज़रूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री अपने जगत् को लेकर क्या है। जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है, वह भी तो अपने पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है; पर हम लोग वहाँ तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है !

बेनीबाबू चुप हो गये। एक ओर खुले अम्बर में, विहँगावलियाँ, अपने पङ्खों को फैलाये, नितान्त निर्बन्ध, हँसी-खुशी के साथ, उड़ी चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे। किन्तु बराबर उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनीबाबू को ही देखा। उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था। उसमें नन्हें-नन्हें एक-आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य आलोक में चमक रहे थे। उनकी खुली आँखें यद्यपि चश्मे के भीतर थीं, तो भी मुझे प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गई हैं। इसी क्षण वे बोले—अब यह काम और आगे न करूँगा। लेकिन···।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय कर रहे हैं और रुक रुक जाते हैं। रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—तुम उस बात को अभी समझ नहीं

सकोगे; लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो। और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है; लेकिन जो आदमी अपने विश्वासों को लेकर भी नहीं खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है? वह आदमी नहीं है। वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकनेवाला प्राणी है! वह तो···वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और यह मनुष्य? छिः इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है!

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है! और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे ज़रा कम पसन्द आती थी; बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मज़ाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो एक हँसी-खेल की चीज़ है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोना रोने, या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है?

इसी लिए मैंने कह दिया—इन लोगों के गाने में बीच का यह—हाँ यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमेषमात्र में, सम्यक् बदलकर—

"जाओ, नज़दीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें, तो कहना—काम में हर्ज नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है, ऐसा मैं सुनता आया हूँ।"—बेनीबाबू ने मुसकराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप—बहुत धीरे-धीरे, पैर सम्हाल-सम्हालकर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता ज़रूर ज्ञान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा—तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया?

खिलखिल के कुछ मदिर कलहास! कभी इधर—कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा, उसे ज़रा-सा धक्का देकर—गा री पत्ती, चुप क्यों हो गई?

"तू ही क्यों नहीं गाती? छोटे-भैया के सामने···"

"हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है! जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो!"

मैंने कहना चाहा—लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया; किन्तु उस खिलखिल और अपने सामने गाने से लजानेवाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लास के साथ आया था; किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया!

बेनीबाबू ने बड़े प्यार से पूछा—कह जाओ।

मैंने कहा—क्या कह जाऊँ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

"फिर तुमने वह बात नहीं कही।"

"उसे मैं कह नहीं सका।"

"तो यह कहो कि तुम ख़ुद ही लजा गये!"

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी की कैसे जाती है, वह चीज़ क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफ़ाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा? वह तो निश्चयपूर्वक फँस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनीबाबू मुझे ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ पहुँचकर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टिगत न होगा?

बेनीबाबू बोले—अच्छा, एक काम कर आओ। राम-लखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। बेनी-बाबू से मैंने कह दिया है कि मज़दूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी है कि देवता।

मुझे अवाक् देखकर उन्होंने पूछा—सोचते क्या हो?

मैंने कहा—कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त

है; किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।

वे बोले—यह सब कोई चीज़ नहीं है छोटे-भैया! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं, शायद हम ख़ुद नहीं जानते।...अच्छा जाओ, जो काम तुम्हें दिया गया है, उसको पूरा तो कर आओ।

मैं फिर उसी छत पर जा पहुँचा; पर अब की बार मैंने देखा, गान चल रहा है। लेकिन एक ही गाना तो दिन-भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने के सुनने की इच्छा हो आई। साथ ही मैंने यह भी सोच लिया कि अभी कुछ समय पहले बेनीबाबू ने कहा था, मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलाया, तो वह सिटपिटा गया। बोला—छोटे सरकार, क्या हुक्म है?

मैंने कहा—बेनीबाबू क्या तुम लोगों के साथ कुछ ज़्यादा सख़्ती से काम लेते हैं?

वह चुप ही बना रहा, सत्य-कृष्ण कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया, डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता, इसी लिए चुप है; लेकिन जब मैंने कहा—मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं। मैं तो सिर्फ़ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।

तब उसने कहा—काम सख़्ती से लेते हैं, तो मज़दूरी भी

तो दो पैसा ज़्यादा और वक्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें, तो मैं तो ज़िन्दगी-भर उनकी गुलामी करूँ।

मैंने कहा—तुम ठीक कहते हो। उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नहीं पूरा होता है, तो कल ही पूरा कर डालना। ज़्यादा तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं है।

रामलखन बोला—पर छोटे भैया, उन्होंने पहले ही बहुत सोच-समझकर हुक्म दिया था। काम अगर आज पूरा न होता, तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगों को इस हालत में न मिलता। वह सूख जाता। तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती? इसके सिवा कल गुड़ियों का त्यौहार है—छुट्टी का दिन है। मैंने पीछे जो सोचा, तो मुझे इन सब बातों का ख़्याल आ गया। काम पूरा हो जायगा। बहुत-कुछ तो हो भी गया है। थोड़ा-सा ही बाक़ी रह गया है। वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा। तकलीफ़ तो थोड़ी हुई—किसी-किसी के हाथों में छाले पड़ गये; लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें सरकार, इतनी बात मेरी भी रख लें।

रामलखन की बात मानकर सचमुच मैंने बेनीबाबू से यह नहीं कहा कि कुछ स्त्रियों के हाथों में छाले पड़ गये हैं।

किन्तु उसी दिन, सायंकाल।

एक ओर ज़ीने की दीवार गिर गई। छुट्टी हो गई थी मज़दूर लोग इधर-उधर से आ-आकर जानेलगे थे कि अररर धम् का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह!'

लोग दौड़ पड़े। लोग गिने भी गये। सब मिलाकर उन्तीस आदमी आज काम पर थे; लेकिन हैं केवल सत्ताइस!

—तो दो आदमी दब गये, क्या?

—हाँ, यह हलका स्वर जो आ रहा है। यह!—यह!

ईंटें उठाई जाने लगीं, तो एक स्त्री ने कहा—हाय! पत्ती है—पत्ती। तभी मैं सोच रही थी—वह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गई! हाय यह तो चल बसी!

उससे कौन कहता कि हाँ, वह आगे निकल गई!

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा!

—अरे और उठाओ ईंटों को। हाँ, इस खंजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है।

एक साथ कई आदमियों ने मिलकर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गई थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरिधर!

कुछ दिनों में गिरिधर अच्छा हो गया। उसकी एक रीढ़ टूट गई थी; लेकिन उसका जीवन उसकी रीढ़ से अधिक बलिष्ठ जो था।

उस बँगले को, फिर आगे, बेनीबाबू नहीं बनवा सके। कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और वे बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है! क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है? क्या वह छुई-मुई है? उन

दिनों में यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनी-बाबू तैयारी कर रहे हैं! लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को उन्होंने मसल डाला है, पीस डाला है! वह छटपटा रही है! वह भाग जाना चाहती है!

वे एक पलँग पर लेटे हुए थे, बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन था, और बेनीबाबू उससे कुछ पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था; अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुरसी डालकर बैठ गया था।

वे बोले—सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूँगा। रोने दूँ, तो मैं अपने को खो दूँगा। लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। मैं मरना नहीं चाहता, इसी लिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ़ कर दूँ? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर ख़ुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि वे रुपये तुम्हारी स्त्री की क़ीमत हैं! एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी—को, क्या रुपयों से मोला जा सकता है? छिः यह

तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन की। लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको ख़ुश करना चाहता हूँ।

—ओह "एक नवयुवती—एक सुन्दरी !"

—तो क्या पत्नी सुन्दर थी ?

—तो उसका कंठ ही कोमल न था, वरन...

बेनीबाबू बोले—मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं। अच्छा, तो मैं ही कहे देता हूं—उसके बच्चे की परवरिश के लिए, दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना! समझे !...यह लो दस रुपये ! आज पहली तारीख़ है। हर महीने की पहली तारीख़ को ले जाया करना।

जेब से नोट निकालकर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना ख़ुश था, इसको मैंने जाना। किन्तु बेनीबाबू ने जितना-कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनीबाबू बोले—मेरा ख़याल है, अब यह ख़ुश रहेगा। क्यों ? तुम क्या सोचते हो ?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया—आपने यह क्या किया ?

"ओह तुम मुझसे पूछते हो, छोटेभैया !—यह क्या किया ! यह मैंने अपने को भुलाने के लिए किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावें में रखने का अभ्यासी है ! मैंने देखा—मैं एक भूल कर रहा हूँ !—मैं मृत्यु को बुला रहा

हूँ। तब मैंने सोचा—मैं ऐसी भूल करूँगा, जिसमें अपने-आपको भी मैं भुला सकूँ! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आपको भुलाना पड़ता है! यह मेरा ऐसा ही क्षण है। लेकिन यह मेरी भूल नहीं है। यह तो मेरा नव-जीवन है—जागरण।

× × ×

यह कथा यहीं समाप्त हो गई है; किन्तु इस कथा के प्राण में जो अन्तर्कथा है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बँगला अब मुझे रहने के लिए दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत् ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफ़ेसर हूँ। जीवन और जगत् का तत्त्वदर्शी। लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ—अपना अन्तर किसको खोलकर दिखलाऊँ! बच्चे सुनें तो हँसें और बीबी सुने तो कहे—पागल हो गये हो!

कभी-कभी रात के घोरसन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिल हँस रही है। कोई धक्का देकर कह रही है—गा री पत्नी! और चुरियाँ खनक उठती हैं, छत कुटने लगती है और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन-स्वर फूट पड़ता है—निंदिया लागी...।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं!

बैक-ग्राउण्ड

"यह भरा-पूरा तालाब आज कैसा सुन्दर लगता है गोविन्द !" कहकर गोपी गोविन्द की ओर देखने लगा।

दोनों आगे-पीछे चल रहे हैं। एक बड़ा तालाब है। उसके चारों ओर, ढाई हाथ चौड़ा, पक्का घेरा है। उसी के ऊपर टह-लते हुए बातें हो रही हैं। रात के ग्यारह बज रहे हैं। चतुर्दिक् घना अन्धकार छाया हुआ है। पूर्व की ओर सूना राजपथ है, उत्तर-पश्चिम सघन आम्रवन। दक्षिण ओर खड़ा हुआ गगनचुम्बी शिव-मन्दिर अपने जन्मकालीन वैभव का स्मरण दिला रहा है।

गोविन्द ने मन-ही-मन गोपी के कथन को दोहराया— 'यह भरा-पूरा तालाब···!' वह इस विषय में कुछ कहने हो जा रहा था कि गोपी खड़ा हो गया। बोला—बड़ी ऊमस है। चलो, नीचे की सीढ़ी पर, जलाशय के बिलकुल निकट, बैठकर देखें। सम्भव है, वहाँ कुछ तरी हो।

दोनों सीढ़ियाँ उतरने लगे। गोविन्द तब भी यह सोच रहा था—हूँ-हूँ, लोग सदा एक भ्रम में रहते हैं। गोपी तक यही समझ रहा है कि तालाब भरा-पूरा है!

अभी दोनों बैठे ही थे कि गोविन्द ने लक्ष किया, निकट ही पानी में कोई मछली ऊपर आकर छप्-सा कर

गई। तब वह बोला—तुमने देखा गोपी, अभी यह छप्-सा शब्द हुआ था।

"देखा।"

"ऐसा ही एक शब्द-मात्र हमारा यह जीवन भी है। हृदय पर यह जो धक्-धक् शब्द हो रहा है, जब यह अन्तिम बार बन्द हो जायगा, तब वह शब्द भी ऐसा ही होगा।"

गोपी कुछ नहीं बोला। तब गोविन्द आपही कहने लगा—नहीं समझे। अच्छा, यह छप्-सा शब्द क्या है, बताओ तो सही।

गोपी जब देखता है कि गोविन्द अपनी फ़िलासफ़ी छौंकने की धुन में है, तब वह मज़ा लेने की उमङ्ग में आकर, प्रायः इसी तरह चुप लगा जाता है।

वह चुपचाप एक ओर देख रहा था। गोविन्द पूछ बैठा—क्या देख रहे हो?

"और कितनी देर बैठोगे?" गोपी बोला—"मुझे तुम्हारी ये बे-सिर-पैर की बातें सुनने का अवकाश नहीं है। कुछ अपना हाल-चाल बतलाओ। जानते ही हो, मैं आज-भर के लिए आया हूँ। सुबह होते-होते मुझे इलाहाबाद की ओर प्रस्थान कर देना है।"

तब गोविन्द ने पूछा—कचनार के यहाँ गये थे?

"गया था। बोलना, बातें करना, तो वह जैसे जानती ही नहीं है। एकटक देखती ही रहती है वह। उसके नयनों की भाषा मैं अभी तक समझ नहीं सका। एक विषाद की छाया-सी उसके मानस पर तैरती हुई जान पड़ती है।

कहती थी—बाबू साहब के क़दमों की धूल भी अब मुझे नसीब नहीं है।"

"हूँ। और ?"

"और कहती थी—मैंने तो कभी उनसे कुछ कहा नहीं। दुनिया चाहे जो कुछ कहे। फिर भी मालूम नहीं, क्यों मुझसे इस क़दर खफ़ा हैं कि देखने तक को तरसती हूँ।"

"अच्छा!...और कुछ कहती थी ?" गोविन्द को गोपी के कथन पर आश्चर्य हो रहा था।

गोपी ने कह दिया—बस, और कुछ नहीं।

तब गोविन्द चुप रह गया। अँधेरे में गोपी को स्पष्ट बोध नहीं हो सका, उसके मुख पर उस समय कौन से भाव थे। हाँ, केवल वह इतना जान सका, जैसे एक शीतल निःश्वास एक साथ न निकलकर दब-दबकर, धीरे-धीरे, निकल रहा हो।

"गुलनार को तुमने देखा था गोपी ?"

"कहाँ ? उस समय मेरा यहाँ विवाह ही कहाँ हुआ था। नहीं, मैं भूलता हूँ। विवाह तो शायद हो गया था। लेकिन गौना होने से पहले ही···।"

"अच्छा हुआ, तुमने जो उसे नहीं देखा।"

"क्यों ?"

"बतलाता हूँ। अच्छा, पहले यह बतलाओ, कचनार के शयन-कक्ष में टँगे फोटोग्राफ़्स तुमने देखे हैं।"

"देखे हैं "

"वह भी देखा है, जो सितार के पास टँगा है।—कोनेवाला।"

"ओह, देखा है गोविन्द! वह गुलनार का है ?...अच्छा, तो यह कहो कि यह कचनार...।"

"हाँ, यह कचनार, उसके सामने, कोई चीज़ नहीं है।"

इसी क्षण जेब से एक पैसा निकालकर गोविन्द ने आगे, तालाब में, तीन-चार गज़ के फ़ासले पर, फेंक दिया।

गोपी बोल उठा—यह क्या किया ?

"बस यहीं, ठीक इसी जगह पर, नाव खड़ी थी। ऐसी ही अँधेरी रात थी। यहाँ किनारे-किनारे गैस के हण्डे जल रहे थे। एक हण्डा उस नाव पर भी था और गुलनार गा रही थी—'क़ता कीजे न तअल्लुक़ हमसे; कुछ नहीं है तो अदावत ही सही।'

"तुम नहीं जानते गोपी" गोविन्द फिर कहने लगा—"सौन्दर्य की धार कितनी तेज़ होती है। कटार के भरे-पूरे आघात से भी आदमी बच जाता है, अगर ऐन मौक़े पर वह ज़रा-सा इधर-उधर हो जाय। किन्तु सौन्दर्य का आघात कभी निष्फल नहीं जाता। गुलनार ने ऐसा ही आक्रमण किया था।

देह-यष्टि के कमनीय प्रदर्शन और मोहक भङ्गिमाओं का आरोह-अवरोह उसका अपना था; किन्तु कटार उसके हाथ में 'ग़ालिब' की थी—मुझसे सम्बन्ध-विच्छेद न कीजिए। और कुछ नहीं है, तो शत्रुता ही कर लीजिए।

"होश सम्हालते ही, सबसे पहले, इस गुलनार को मैंने ही गाँव से निकाल बाहर किया था। मैं नहीं चाहता था कि वह हमारे गाँव में रहे। मेरे बचपन में, पिछले पाँच वर्षों के अन्दर, दस-पाँच अच्छे ख़ासे सुखी-सम्पन्न सद्गृहस्थ उसके पीछे तबाह हो चुके थे। सुनते हैं, ख़ास मेरे चाचा साहब उसकी माँ के आशिक़ों में से थे। एक ज़रूरी काम से मैं उस समय घर आया हुआ था। मुझे केवल दो दिन रहना था। दोस्तों ने कहा—चलो, आज हम लोगों के साथ यहाँ का मेला देख लो। तभी बहुत मजबूर होकर मैं चला आया था। किन्तु बाद में मैंने अनुभव किया, वह मेरी ग़लती थी। गुलनार का वह वार ख़ाली न जा सका।

"मैं उन दिनों नगर में रहने लगा था। गाँव में वर्ष में केवल एक-दो दिन के लिए आना होता था। गाँव से उसे निर्वासित कर ही चुका था। इससे आगे बढ़ने का अब मेरे सामने कोई प्रश्न नहीं रह गया था। और ऐसे ही अवसर पर उसने कह दिया—तो दुश्मनी ही (फिर) कर लीजिए।

"अब मेरे वे दिन न थे गोपी। सुन्दर वस्तुओं को देख-कर मैं अब उनका तिरस्कार न कर सकता था। चित्र का

पृष्ठभाग ही न देखकर अब मैं उसका आवरण भी देखता था। पृष्ठभाग जैसे कोरा होता है, वैसे ही निर्विकार-निर्लिप्त रहकर मैं अब 'कुछ नहीं' कहने का साहस न कर सकता था। (अधिक) माधुर्य का संयोग विष के कीटाणुओं की ही सृष्टि करता है, सभी सुन्दर वस्तुएँ भीतर से एक तुच्छता ही प्रकट करती हैं, मेरे इस विश्वास में अब अन्तर पड़ गया था। और, इसका परिणाम यह हुआ कि मैं भीतर-ही-भीतर गुलनार का आत्मीय हो गया। तुम्हें आश्चर्य हो रहा है गोपी, किन्तु···।"

"मुझे कल सबेरे की ट्रेन से चला जाना है गोविन्द" बीच में ही फिर गोपी ने कह दिया, "अतएव अच्छा हो, हम लोग अब लौट चलें। रास्ते में तुम्हारी यह बात भी सुनते चलेंगे।"

किन्तु गोविन्द ने कहा—बस, अभी समाप्त करता हूँ।

"हाँ, तो उस दिन के पश्चात् मुझे उसका थोड़ा-सा ख़याल हो गया था गोपी। मैं सोचने लगा था—'कुछ नहीं है तो अदावत ही सही।' कहकर उसने सब कुछ कह डाला है। वह मुझे और चाहे जो कह लेती, पर उसने यह क्यों कहा कि 'कुछ नहीं है।' कुछ कैसे नहीं है? माना कि गुलनार वेश्या है, वेश्या।—एक गन्दी नाली; बदबू ही फैलाना जिसका गुण है। परन्तु उसके प्रति मेरी घृणा क्यों हो? गन्दे नालों से क्या वास्तव में मनुष्य परे

हो सका है ? तब केवल इसलिए कि वह पतित है, हम उससे घृणा क्यों करें ? नहीं हो सकता मुझसे ऐसा। मैं अपने दुश्मन से भी घृणा नहीं रख सकता। मुझे गुलनार से सहानुभूति है। और तभी मेरी तबीअत होती थी, मैं उससे मिलूँ।

"कानपुर में एक मेला लगता है माघी पूर्णिमा के दिन। तुमने तो देखा है।...हाँ, तो घूमता हुआ मैं दोस्तों के साथ गङ्गाजी की ओर जा रहा था कि उधर से मैंने देखा, गुलनार खादी की साड़ी पहने अकेली आ रही है। देखा, तो आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। मित्रों से बिना कुछ इशारा किये, मैं रेलिङ्ग थामकर ज़रा-सा खड़ा हो हुआ था कि हाथ जोड़कर उसने 'नमस्ते' किया। उत्तर में मेरे भी हाथ उठ गये। किन्तु मैं कुछ बोल न सका। वह बोली—बड़ी मुसीबत में फँस गई हूँ कुँवरजी। आपकी इमदाद के बिना...।

"मैंने देखा—उसकी आँखों में आँसू छलछला आये हैं। दोस्तों की ओर तुरन्त मेरी दृष्टि जा पड़ी। उनमें सुदर्शन मेरा बड़ा विश्वासी और घनिष्ठ था। वह मेरा भाव समझ गया। अन्य साथियों से उसने कहा—अब हम लोग कुँवरजी को यहीं छोड़ देना अधिक पसन्द करते हैं।...बस, वे लोग आगे बढ़ गये और मैं उसके साथ चला गया।

"गुलनार की कथा सुनकर मैं चकित हो उठा गोपी। पिछले दिनों वह बिशालसिंह के पास थी। उन्हीं का मर-

डर-केस चल रहा था। पुलिस ने पूरी तौर पर उसे फाँस लिया था। बड़ी मुश्किल से वह ज़मानत पर छूटी थी। उसके बचने की कोई आशा नहीं था। ओह, मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ गोपी, कि उस समय मेरे आगे वह कितना बिलख-बिलखकर रोई थी! उसने ज़बरदस्ती अपने हाथ से मेरे जूते के फ़ीते खोले थे। जितनी देर उसके यहाँ मैं बैठा, वह बिलकुल मेरे पास बैठकर मुझ पर पङ्खा झलती रही। मैंने अनुभव किया, क्षण-क्षण पर, बराबर, कि इस गुलनार में कहीं भी कोई कलुष नहीं है। मनुष्य के साथ छल करके उसका सर्वस्व अपहरण करने का दोष उस पर नहीं लगाया जा सकता। यह तो एक सामाजिक दण्ड है, जिसके कारण वह इस पथ की पथिक बनी है।

"मैं उसके यहाँ कई घण्टे बैठा था। उसने हर पहलू पर बातें की थीं। उसने कहा था—मैं जानती हूँ, मेरे इस नापाक जिस्म से आप लोग नफ़रत करते हैं। इस मानी में मुझे कोई शिकायत नहीं है। लेकिन मुझे यक़ीन है कि जिन मुसीबतों ने मुझे इस क़दर ज़लील बनाया है, उनको देखते हुए कोई भी ईमानदार शख़्स मेरे दिली जज़बात से नफ़रत रख नहीं सकता। आप क्या जान सकेंगे कुँवरजी, कि ठाकुर साहब मुझे कितना मानते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था—'हर तरह से शौहर की ख़ुशामद करना, उसे हरदम ख़ुश रखना, हमारे घरों की स्त्रियाँ जानती ही

नहीं हैं। उन्हें उनसे लड़ने से ही फ़ुरसत नहीं मिलती, दिलजोई कौन करे! लेकिन जब से तुम मुझे मिली हो (गुलनार) मेरे दिल के घाव जैसे पुर गये हैं!'...आज वे नहीं हैं। आपसे कौन बतलावे कि मैं उनके लिए क्या हूँ, जिन्हें मैं एक बार अपना समझ पाती हूँ और किस तरह मेरे जिस्म का क़तरा-क़तरा उनके क़दमों पर हरदम निसार रहने को तैयार रहता है।

"गोपीनाथ, मैं तुमको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि उन आँसुओं को अगर तुम देख पाते, उसकी कलेजा चीर देनेवाली ये बातें यदि कहीं सुन पाते, उसके मोहक रूप-लावण्य की एक भी सुमन-शोभन झलक अगर तुमको मिल सकती, तो तुम अपना आत्म-समर्पण कभी रोक नहीं सकते थे।

"मैंने उसे विश्वास दिलाया कि तुम घबराओ नहीं, मैं तुम्हारी मदद करूँगा। तुम बिलकुल बरी हो जाओगी। किसी तरह की आँच तुम पर नहीं आ सकती।

"वह छटपटाती हुई बोली थी—"मैं मरने से नहीं डरती कुँवर जी। फाँसी मुझे लग जाय, मैं उफ़ करनेवाली नहीं। लेकिन, आप ज़रा सोचें तो सही, जिनकी मैं आशना रही, अपने चाल-चलन पर उन्हीं को क़त्ल कराने का दाग़!...तोबा तोबा! ख़ुदा इस गुनाह को बरदाश्त कैसे करेगा!

"ख़ैर, तुम नहीं चाहते गोपी कि मैं विस्तार से उसकी

कथा कहूँ। अतएव मैं और भी संक्षेप-रूप से कहूँगा।...हाँ, तो अन्तता गत्वा मुझे उसकी पैरवी करनी ही पड़ी। समय तो मेरा उसमें काफ़ी लगा, बदनामी भी कम नहीं हुई; किन्तु अन्त में वह बेदाग़ छूट गई।

"अब गुलनार स्वतन्त्र थी। गाँव छोड़कर वह नगर में ही रहने लगी थी। मैं जब-जब कानपुर जाता, वह मुझसे मिलने आती। हर प्रकार की सेवा करने के लिए वह सदा तत्पर रहती थी। नगर में रहना मेरे लिए अब एक स्वप्न-सा आनन्ददायक बन गया था।

"यह सब कुछ था गोपी, किन्तु अब भी गुलनार मुझसे दूर थी। उसकी श्री दिनानुदिन क्षीण होती जा रही थी। जब कभी मैं इसका कारण पूछता, वह हँसकर टाल जाती।

"बिलकुल आजकल के दिन थे। मैं कुछ रुपये की आवश्यकता से अपने गाँव जा रहा था। गुलनार बोली—मैं भी चलूँगी। गाँव छूटे हुए कितने दिन हो गये! मैंने कहा—चलो।...वह मेरे साथ हो ली।"

बारह बज गये थे। गोपी बोला—भई अब चलो। तुम्हारी बात जल्दी भला क्यों समाप्त होने लगी! देखो, अष्टमी का चन्द्रमा उदय हो आया है। वायु भी अब मन्द-मन्द बहने लगी है। जी में आता है, नहा डालें। लेकिन अतिकाल हो गया है। कहीं कोई भी आदमी नहीं देख पड़ता। एकदम से सन्नाटा छाया हुआ है।

गोविन्द बोला—भय लगता है ?

गोपी ने कहा—भय तो नहीं लगता, लेकिन...।

गोविन्द तत्काल कुरता उतारकर कमर तक पानी में जा पहुँचा। बोला—तुम्हें क़सम है (हमारे साथ) ज़रा-सा नहा लो। बस, नहाते-नहाते अपनी बात भी समाप्त कर लेंगे और फिर ठण्डे होकर चले चलेंगे।

वह पानी उछालने का इशारा करते हुए बोला—चलो, नहीं तो मैं पानी उछालता हूँ।

विवश गोपी भी तब कपड़े उतारकर गोविन्द के पास जा पहुँचा। दोनों एक दूसरे पर पानी उछालने लगे।

उल्लास में डूबकर गोविन्द बोला—इस जीवन में मैंने तो प्रेम को आत्म-समर्पणमात्र समझा है गोपी। गुलनार जीवित भी रहती, तो मैं उसे पहचान नहीं सकता था। जानते हो क्यों ? क्योंकि वह मेरे लिए एक समस्या थी। प्रत्येक नारी पुरुष के लिए एक समस्या होती है। गुलनार से मैं प्रेम करने लगा था ? शायद नहीं। 'शायद' शब्द इसलिए जोड़ता हूँ, जिसमें अपने कथन के महत्त्व से मैं दबा बना रह सकूँ। मेरे मन में कभी-कभी उसके प्रति एक सन्देह उत्पन्न हो उठता था। मैं सोचने लगता था—वह वेश्या है; और क्या आश्चर्य, अगर विशालसिंह की हत्या में उसका हाथ रहा हो। इस सन्देह का समाधान तब तक नहीं हुआ था कि संयोग से उस दिन वह मेरे साथ यहाँ चली आई।

हम लोग इसी जगह पर बैठे बातचीत कर रहे थे। देर भी काफ़ी हो गई थी। चारों ओर एक शून्यता-सी व्याप्त हो रही थी।...लो, तुम तो निकले जाते हो। ख़ैर, तुम कमज़ोर तबीअत के व्यक्ति ठहरे। और अधिक नहाने का आग्रह मैं तुमसे नहीं करूँगा।...हाँ, तो उस दिन इसी तरह बातें करते-करते एकाएक वह मुझसे भी नहाने का प्रस्ताव कर बैठी। गोपी, बस वह पहला अवसर था, जब मैंने गुलनार को इतने निकट—अनंगलता-सी देहयष्टि के वैसे स्पष्ट रूप में—देखा था। मेरे लोम-लोम में एक अद्भुत प्रकार का कम्पन हो उठा। मुझे ऐसा बोध होने लगा, मानो गुलनार उर्वशी है और केवल स्वप्न दिखाने आई है। साड़ी उतारकर उसने वहीं रख दी, जहाँ अभी तुम बैठे थे। अण्डर-वियर कटि के नीचे और ऊपर कसी हुई कञ्चुकी मात्र उसके बदन पर थी। फिर इस स्थान पर, जहाँ मैं खड़ा हुआ हूँ, वह झट से आ पहुँची और लगी मुझ पर पानी उछालने। मैं क्षण-प्रति-क्षण भीतर-ही-भीतर आन्दोलित हो रहा था। फलतः मैं भी उस पर पानी उछालने लगा।

"क्या बतलाऊँ गोपीनाथ, उस समय वह मुझे कैसी शोभन प्रतीत हुई। छोटे-छोटे जल-कण उस सरोजिनी पर उसी भाँति खिल रहे थे, जैसे मोती हों और हँसना उन्होंने सीख लिया हो। आकण्ठ जलमग्न उस निखिल कलेवर में ऊपर निकला उसका चन्द्रानन शतदल की भाँति खिल रहा था। उन्मुक्त

कुन्तल-राशि चारों ओर लहरा रही थी। उसकी इस छवि को मैं इकटक देखता रह गया।

गोपी चलने लगा। बोला—मैं तो जाता हूँ। तुम पीछे आते रहना।

गोविन्द ने समझा, कहीं सचमुच चल ही न दे; अतएव उसने कहा—बस, मैं अभी चलता हूँ गोपी। सुनो, ठहरो, तुम्हें मेरी क़सम।

गोपी लौटकर फिर वहीं खड़ा हो गया।

गोविन्द ने कहा—हाँ, तो मैं उसकी ओर देखकर रह गया था। इसी क्षण उसने मुस्कराते हुए पूछा—क्या देखते हो ?

मैंने कहा—क्या बताऊँ गुलनार, इस सौभाग्य के प्रति मैं कुछ आशङ्कालु हो उठा हूँ।

उसने पूछा—क्यों ?

"बात यह है कि" मैंने समझाते हुए कहा था—"कोई भी अप्रत्याशित आनन्द मेरे लिए कभी स्थायी नहीं हो सका। स्वप्न की भाँति जैसे वह मिला है, वैसे ही भंग होकर विलीन भी हो गया है।

"भई गोपीनाथ, मैं तुम्हें क्या बतलाऊँ, मेरा इतना कहना था कि उसका मुख म्लान हो गया। बोली—यह मेरे इस अधम शरीर का कर्म-भोग है। तुम्हारी बात मैं क्या कहूँ—ठाकुर साहब ने भी मुझ पर कभी विश्वास नहीं किया। मरने

के कुछ दिन पहले तो इनका अविश्वास मेरे प्रति अत्यधिक भयानक हो उठा था।

"तुम कहती क्या हो गुलनार!"—आश्चर्य से मैंने कह दिया।

"सच ही कहना पड़ता है कुँवरजी।" वह बोली—"मेरी आशा मर चुकी है। आकांक्षाओं का सरोवर सूख गया है। एक साध थी; किन्तु...।"

"मैंने देखा, उसका कण्ठ अवरुद्ध हो उठा है। स्वर भारी हो गया है। तो भी मैंने प्रश्न कर ही दिया—उनके अविश्वास का कोई कारण रहा होगा।

"कारण था क्यों नहीं?" दृढ़ता के साथ वह बोली—"बहुत बड़ा कारण था।"

"क्या मैं उसे जान सकता हूँ?" मैंने पूछा।

"वह इसी सीढ़ी की ओर बढ़ गई। शिथिल-सी, क्लान्त-सी। एक ओर लुढ़कती हुई बोली—तबीअत बहुत घबरा रही है कुँवर जी। हाथों और पैरों का सत्त्व चला गया है। अँतड़ियाँ जल रही हैं। जीवन समाप्त होना चाहता है। आह!

"मैं उसके पास आ गया। उसके सिर को मैंने जानु पर रख लिया। उसने कहा—मैंने विष खा लिया है। ये मेरी

अन्तिम घड़ियाँ हैं। मुझे गले लगा लो ! अरे, एक बार तो मुझे प्यार कर लो !

"उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे थे !

गोपी ने भी स्पष्ट देखा, गोविन्द का कण्ठ भर आया है, उसकी आँखें चमक रही हैं।

"क्षण भर बाद, क्षीण स्वर में, उसके मुँह से कुछ शब्द निकले—आह ! बड़ा सुख है जीवन में, लेकिन...। अरे, वह बात तो रह ही गई ; ऊँह, उन्हें मालूम हो गया था कि मैं—मैं तुम्हें चाहती हूँ। उन्होंने मुझे—आह ! मरवा डालना चाहा था।

"बस, गोपीनाथ, इसके बाद सब समाप्त हो गया। जहाँ तुम खड़े हो, ठीक इसी समय उसने इस संसार से विदा ली।"

× × ×

दोनों बस्ती की ओर चले जा रहे थे। कोई कुछ कह नहीं रहा था। गोपी की दृष्टि आम्र-विटपों की सघन श्याम छाया—उसके काले-काले अन्धकार—की ओर थी। पवन डोल रहा था। पेड़ों की डालियाँ हिल रही थीं। पत्तियों से सी-सी का शब्द फूट रहा था। इधर-उधर कहीं भी कोई व्यक्ति नहीं देख पड़ता था। सुदूर बस्ती में केवल कुत्तों का स्वर सुनाई पड़ता था।

गोपी गोविन्द की भावुकता से परिचित है। बार-बार एक आशङ्का की कातर ध्वनि, बिजली की भाँति, उसके अन्तराल में कौंध जाती है। वह यही सोचने लगता है—गोविन्द के लिए वह—वह कुछ भी कठिन न था। वह बिलकुल उसी क्षण के निकट जा पहुँचा था।

एक कँपकँपी उसे आ गई।

किन्तु उसी क्षण गोविन्द बोल उठा—तुम कह रहे थे, यह भरापूरा तालाब आज कितना सुहावना लगता है!

प्रेम-चक्र

(१)

रैनबसेरा, कानपुर
१७।६।३७ की रात्रि, ८ बजे

प्यारी आशा,

आज तुमसे कुछ विशेष बातें करने की इच्छा हो रही है। कुछ बातें तो ऐसी हैं, जो एकदम से ठंढी हैं, उन पर विचार करने और अपना मत देने में कुछ समय लग सकता है। किन्तु कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो एक ओर से यदि जली-कटी हैं, तो दूसरी ओर से, उसी हद तक, स्वाभाविक और यथार्थ भी हैं। अच्छा होगा, यदि उनके सम्बन्ध में तुम अपना अभिमत अपने अगले पत्र में प्रकट कर दो।

कुछ लोग अपने मन को भारी बनाये रखने के अभ्यासी होते हैं। अनेक विचार उनके अन्तराल में दबे, बन्द, पड़े रहा करते हैं। जीवन में बहुत कम ऐसे अवसर आते हैं, जब उनके लिए वे लोग अपना मुँह खोल पाते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों के विषय में मेरा अपना मत यह है कि वे संसार का हित-साधन बहुत कम कर सकते हैं। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि गम्भीरता मानव-प्रकृति का एक गुण है, किन्तु विचारों के समुद्रमन्थन का प्रतिनिधि—मनुष्य—जब

सर्वथा मौन बना रहता है, तब मुझे विधाता की रचना-प्रणाली पर बड़ा क्रोध हो आता है। ज़रा सोच देखो आशा, मौनावलम्बन ही जिनकी प्रकृति है, उन्हें मनुष्य उसने बनाया ही क्यों ?

इसी लिए आज मैं अपने मन को ज़रा हलका कर लेना चाहता हूँ।

वे सुनहले दिन तुम भूली न होगी आशा, जब तुम्हारे निकट कुछ अधिक देर तक बैठने का अवसर मैंने पाया है। अनेक बार मैंने यह अनुभव किया है कि तुम्हारे अध्ययन में विघ्न पड़ रहा है; किन्तु, फिर भी, तुम मुझे लौट जाने की अनुमति नहीं दे रही हो! कभी-कभी मैं यह भी जान सका हूँ कि तुम्हारी अभिन्न सखी वीणापाणि इस अभिप्राय को लेकर तुम्हारे निकट आई है कि तुम उसके साथ टहलने के लिए तुरन्त चल दो; किन्तु तुमने हीला-हवाला करके उसके चरम विवक्षित अनुरोधों को भी अमान्य कर दिया है। इस प्रकार, केवल मेरे लिए ही, तुम्हें अनेक अनभ्यस्त असुविधाओं पर, प्राय: अप्रीतिकर अनुशासन करना पड़ा है! और इसका एकमात्र कारण मैंने यह समझ पाया है कि तुम मुझे अपना समझती रही हो। किन्तु आज यह पढ़कर तुम अपनी प्रकृत हँसी—हाँ हाँ, उस मदिर 'खिलखिल'—को रोक न सकोगी कि यह जगत्नारायण भी एक विचित्र जन्तु निकला! देखो तो, उसने कैसा अंट-संट लिख मारा है!

मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ

[अ]

सन् १९३५ ई० के जुलाई मास की १९ वीं तारीख़। यूनिवर्सिटी रोड पर एक अभिनव हलचल। टैक्सी-गाड़ियों और ताँगों का ताँता लगा है। कुछ ठिकाना है, धूप-छाँह-सी झलमली उत्पन्न करनेवाले, इन सहस्रों नवयुवकों के लक्-दक् वेश-विन्यास और उनके साथ के सामान के ठाठ-बाट का! दर्जनों युवकों का रेस्टराँ और होटलों में वह स्वच्छन्द प्रवेश और प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों का वह अप्रत्याशित आह्लादपूर्ण अकल्पित विस्मय!

सायंकाल साढ़े छः बजे जगत्नारायण अपने बालसखा नवीन के साथ, एक रेस्टराँ की सीढ़ियों से उतर रहा है। उसी क्षण, सामने की सड़क पर, एक मोटरकार सर्र से निकल गई है। किसी के कान का रिंग, उसकी अनावृत गोरी-गोरी बाहु और साड़ी का एक कोना ही वह देख सका; किन्तु एक झलक-मात्र में उसने जान लिया कि वह है कौन।

वह रोल्सरायसकार, वह यूनिवर्सिटी रोड और उस पर उसकी वह द्रुत गति; उसका सर्र-सा क्षणिक, किन्तु सजीव स्वर, कुछ भी तो जगत् के लिए नवीन नहीं है; क्योंकि बी० ए० में उसका यह दूसरा वर्ष है। आँखों के अध्ययन-कोष में उसके समक्ष ऐसे अगणित पृष्ठ निरन्तर आते ही जाते रहते हैं। तो भी जगत् का एक ही दृष्टिक्षेप, जो पुकार-पुकारकर

कह रहा है कि वह वही थी, निश्चयपूर्वक वही; इसका कारण क्या है ?

[ब]

३ । ८ । ३६

आशा कविता करना सीख रही है । आज उसने स्टोव पर, अपने ही हाथों से, गेहूँ का दलिया, विशेष रूप से तैयार करके, मुझे खिलाया । चखते हुए मैंने कह दिया—यह दलिया है कि हलवा ! उत्तर में आशा के अधर-पल्लव स्थानान्तरित हो उठे । फिर उसने प्रसङ्ग बदल-बदलकर अजीब क़िस्म की बातें कीं । कभी गम्भीर हो गई; अवाक्—नीरव । कभी जो थोड़ी खुल पड़ी, तो हँसी और खिलखिलाई । उसके स्वर्ण-वर्ण आनन पर नारंगी आभा झलक उठी । कभी-कभी उसने मीठी-मीठी चुटकियाँ भी लीं । ग़रज़ कि छोटी-छोटी चिड़ियों की तरह, इस टहनी से उस टहनी पर, वह फुदकती ही रही !

तो, इस प्रकार, आशा कविता बन गई ।

अब ?

अब मैं करूँ क्या ? इसे सम्हालूँ कैसे ?—क्या इसका नियमन करूँ; इसे विवश, वशीकृत, अवरुद्ध बनाकर रक्खूँ ?

न, कविता भी क्या कभी बन्दिनी बन सकी ? क्या आशा बन्दिनी बन सकती है ?

मैं आप-ही-आप हँस पड़ा—भीतर-ही-भीतर—अरे, मैंने यह सब सोच क्या डाला ! क्या मैं विक्षिप्त हो गया हूँ ?

भीतर यह उन्मीलन। बाहर आँखें खोलकर, चेतना को सजग बनाकर, जो आशा की ओर दृष्टिपात किया, तो कुछ और पाया। अगमनीय गम्भीरता से वह कह रही है—

"नारी न धन की भूखी है; न वैभव की दासी ; न रूप की प्यासी—वह तो प्रेम की निर्मल जलधारा है।"

ज़रा सोचो जगत्‌नारायण, यह आशा सत्य है कि निरी कल्पना !

[स]

१७। ८। ३६

लो, आज आशा जो कुछ उत्तेजित हो उठी, तो उसने घृणा और क्षोभ से प्रकोपगर्वित हो-होकर कह डाला—

"जब ये लोग अपना, अपने बाल-बच्चों का, भरण-पोषण तक नहीं कर सकते, न अपनी क्षुधा शांत कर पाते हैं, न अनिवार्य्य आवश्यकताओं की पूर्ति; तो इन्हें विवाहित होकर देश के दुख-दारिद्र्य की वृद्धि करने और उसे अतिशय संकटापन्न बनाने का क्या अधिकार है ? और अपनी हीनता का यह प्रदर्शन भी तो हमारी नग्नता का ही सूचक है ! मानवता का अपमान है यह ! जिनमें गौरव के साथ जीवित रहने का पौरुष मर गया है, उन्हें मनुष्यता को इस प्रकार लाञ्छित करने का कोई अधिकार नहीं है ! उन बेशर्म,

निकम्मे और बुज़दिल—पुरुष-नामधारी जानवर—लोगों को चाहिए कि वे अपना काला मुँह करके इस वसुन्धरा, इस अन्नपूर्णा, को तो रौरव न बनावें! अच्छा है, वे चिल्लू-भर पानी में डूबकर सीधे स्वर्ग को ही सिधार जायँ!"

[८]

२१।५।३७

जब कोई काम नहीं है, तो यहाँ देहात में पड़े-पड़े वह करे क्या? बड़े नगरों में काम मिल सकता है; किन्तु वहाँ कुछ दिनों तक ठहरने के लिए रुपया भी तो चाहिए और चाचाजी ने कह रक्खा है, हिसाब देख लो। भैया जो कुछ छोड़ गये थे, उसमें अब एक पाई भी शेष नहीं रह गई। किसानों से रुपया वसूल नहीं होता, और सरकारी माल-गुज़ारी तो देनी ही पड़ती है। अब जगत्नारायण अपने स्वाभिमान का गला घोंट-घोंटकर कितने दिन देहात में पड़ा रहे?

काम-काज की खोज में, माँ से लड़-झगड़कर, उसकी एक अँगूठी लेकर आये हुए, जगत् को यह दूसरा मास है। पुराने कपड़े ही चल रहे हैं। धोबी के घर से अनेक बार जा-जाकर, वैसे ही, ज्यों-के-त्यों, वापस लौट आये हैं; क्योंकि आठ-दस दिनों तक वे छोड़े कैसे जा सकते हैं? अपने हाथों से उनकी सफ़ाई तो किसी प्रकार कर लेता हूँ; किन्तु उन पर वह अभिराम उज्ज्वलता कैसे झलके? लोहा, टेबिल और

कोयला; और पैसा; और समय ? और तुम ठहरीं पैंट की क्रीज़ को देख-देखकर मेरे नित नव फ़ैशन की चपल आलोचक आशा !

एक मिल में पचहत्तर रुपये मासिक की एक जगह मिली है। उसका निर्वाह तत्परता से कर रहा हूँ। अभी वेतन मिला नहीं है ; क्योंकि मास पूरा होने में थोड़ा विलम्ब है।

यहाँ उपर्युक्त तीसरे पृष्ठ की तुम्हारी बात का उत्तर देना चाहता हूँ। उन बेचारे ग़रीबों को तुमने निकम्मा, बेशर्म और बुज़दिल कहा था और उस समय तुम्हारे इस विचार की मौलिकता से प्रभावित हुए बिना मैं रह नहीं सका था। किन्तु आज जब ये शब्द मेरे भाल पर भी लिखे हुए प्रतीत हो रहे हैं, तब मैं इनकी समीक्षा किये बिना भी नहीं मान सकता। वे ग़रीब हैं और माना कि अपनी ग़रीबी के कारण किसी अंश में वे ख़ुद भी हैं, तो भी संसार में रहने का उन्हें उतना ही अधिकार है, जितना किसी अमीर को; क्योंकि वे जीवन-धारण किये हुए हैं, प्रयत्नशील हैं, प्रगतिशील हैं और उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जब वे सम्पूर्ण अर्थों में मानवोचित अधिकारों के भागी होंगे। वे आशामय भविष्य के पथ पर हैं। वे ज़िन्दगी चाहते हैं; ऐसी ज़िन्दगी, जिसमें जगत् के प्रकम्पित निःश्वास हैं और आशा के निर्बाध वन-विहरण।

किन्तु यह तो कोरी सिद्धान्त की बात हुई। इसी लिए इस प्रश्न को फिर से उठाकर मैं जानना चाहता हूँ आशा, कि अब तुम कहना क्या चाहती हो।

चुप क्यों हो ? क्या तुम सोचती हो कि मैं उन पुरानी बातों, उन स्वप्निल स्मृतियों, को छू-छूकर तुम्हारी भावुकता को आन्दोलित करना चाहता हूँ ? मैं ऐसा उतावला नहीं हूँ आशा। मुझमें अटूट धैर्य है। मैं सब कुछ सहन कर सकता हूँ। तुमको किसी प्रकार की उलझन में डालने की मेरी क़तई मंशा नहीं है। मैं तो केवल यह जानना चाहता हूँ कि इन परिस्थितियों में तुम मुझे क्या करने को कहती हो।

तुम्हारा—

एक जगत्

(२)

प्रात:समीर, कानपुर

२३। ६। ३७, ६ बजे

मेरी आशा,

पत्र के साथ सौ रुपये का एक चेक भी मिला।

मैंने तो भेजा एक पत्र कि ज़रा तुम्हारा मन लूँ, टटोलूँ उसको, कि आख़िर तुम हो कहाँ ! और तुमने चटपट साड़ी बदल के यह आरती सजा ली। वही बात, वही कविता ! अरे, इस जगत् की ओर भी तो देखो आशा ! वास्तव में, क्या यह ऐसा ही स्वप्नमय है ! माना कि आज बाबूजी के हाथ में सब कुछ है और वे दस-पन्द्रह हज़ार रुपये भी देने को तैयार हैं ; किन्तु यह सब क्या सचमुच मेरे निकट पहुँच पायेगा ? क्या यह ऐसा है कि इसको मैं सोलह आने अपना

मान सकता हूँ ? फिर, आज तुम्हारे आग्रह से, तुम्हारी ओर देखता हुआ मैं मान भी लूँ कि अच्छा, यह अब अपना ही है ; तो भी आशा, तुम पुरुष-हृदय के प्रकृत अहंकार को छूकर ज़रा देखो तो सही कि वह कैसा ज्वालामय है !

तुम नारी हो आशा । भावुकता तुम्हारी प्रकृति है—उत्सर्ग तुम्हारा प्यार । किन्तु क्या तुमने कभी यह-भी सोच-कर देखा है कि एक नारी ही नहीं, यह अखिल मानव-सृष्टि अपने जीवनगत संस्कारों के साथ कैसी विजड़ित है ? आज यह इतना रुपया अपना हो भी जाय, तो भी क्या यह हम लोगों के अनिश्चित अकल्पित जीवन भर के लिए यथेष्ट होगा ? कितने दिन तक अपनी जीवन-यात्रा के साथ इसको चला सकोगी ? अभावों के साथ मज़ाक करना मैं भी बहुत जानता हूँ; किन्तु कल्पना के द्वारा सत्य के अदम्य भीम विस्फूर्जन को कितनी देर तक दबाये रक्खा जा सकता है, कभी सोचा है ?

तुमने मुझे निर्मोही लिख मारा है । किन्तु आज रात-भर मुझे नींद नहीं आई । कई बार जी में आया, किसी तरह भी यदि आज ही तुमसे मिल सकता, तो इसका यथेष्ट उत्तर देकर ही मानता । पगली आशा, बावली आशा, यह जगत् आज तुझे निर्मोही प्रतीत होने लगा !

आफ़िस से छुट्टी ही नहीं मिली, करूँ क्या ? एक क्लर्क छुट्टी पर गया है, एक बाबू बीमार पड़े हैं। ऐसी दशा में

मुझे छुट्टी कैसे मिल सकती है ? नया ज़रूर हूँ, किन्तु मेरे विभाग का मैनेजर अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा मुझ पर अधिक विश्वास करता है। मेरे कार्य की चारुता का उस पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि वह इन्हीं छः महीनों के बाद मुझे १०) दस रुपये और अधिक वेतन दिलाने का विश्वास दिला चुका है। बताओ आशा, इस दशा में ऐसी नवजात, किन्तु आशा-प्रद आजीविका को ठुकराकर तुम्हारे पास कैसे आऊँ ?

यही वह विवशता है आशा, जो हमारे मन-प्राण तक को पाशबद्ध कर डालती है। यह हमारी भावनाओं की छाती पर से निकल जाने की अभ्यासिनी होती है और हमारे तरंग-संकुल मानस के ईषत् कम्पन को भी निमेषमात्र में जड़ीभूत कर देती है। इसी को मैं प्रारब्ध, भाग्य या नियति मानता हूँ।

अच्छा आशा, सचमुच क्या तुममें दरिद्रता का जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य है ? बँगला, मोटर, साड़ियाँ, सैर-सपाटा, रेडियो, सिनेमा, आभूषण, मिठाइयाँ, इत्र-तैल, नौकर-चाकर आदि आज के युग के इन सांसारिक प्रलोभनों से क्या तुम अपनी रक्षा कर सकोगी ? अच्छा, माना कि तुम स्नेहपाश्या हो आशा, तुम्हारे त्याग की सीमा नहीं है। किन्तु जब कभी तुम अपनी गोद में अपने नवल भविष्य को खेलते, कलोल करते हुए, देखोगी, तब भी क्या तुम अपने अभावों की ओर से आँखें फेरकर रह सकोगी ?

तो, यह न होगा आशा। अपने स्वार्थों के लिए मैं तुम्हारे महान् भविष्य को इस प्रकार भूलुंठित न होने दूँगा। यह नहीं हो सकता—कदापि नहीं हो सकता। जाओ आशा, जगत् की कल्पना से जितनी दूर जा सको, चलो जाओ! उसे भूल जाओ। वह कोई नहीं है तुम्हारा! सचमुच निर्मोही है वह।

चेक वापस भेजता हूँ!

तुम्हारा—

शून्य जगत्

(३)

तरङ्ग-विहार, कानपुर

३०। ६। ३७, सायंकाल ६॥ बजे

आशा रानी,

सकुशल पहुँचा। मैनेजर से सारा हाल कह दिया। अपने विचार भी उसको बतला दिये। तुम्हारी भी चर्चा कर दी। चुपचाप सुनता रहा। बीच-बीच में उसने कुछ कटे-छटे प्रश्न भी किये; किन्तु मेरा उत्तर पाकर फिर वह चुप रह गया। उसके मन की स्थिति कुछ अस्त-व्यस्त-सी जान पड़ी, मुख आम्लान हो गया। मुझे इस व्यक्ति से कुछ प्रीति—नहीं श्रद्धा—हो गई है। मैंने कई बार यह अनुभव किया है, मानो मैं उसका जन्मजात आज्ञाकारी हूँ। जिस किसी कार्य का आदेश वह करता है, उसे चटपट पूर्ण करके जब मैं उसके

समक्ष उपस्थित होता हूँ, तो वह मुझे देखता रह जाता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो यही मेरा भविष्य-निर्माता है!

बाबूजी को मैंने इस बार बिलकुल बदला हुआ पाया। कभी सोचा तक न था, कल्पना तक न की थी, कि वे इतनी जल्दी मुझे अपना आत्मीय बना लेंगे। ओह! यह सब क्या होनेवाला है, आशा! क्या वास्तव में मैं ऐसा भाग्यशाली हूँ? उन्होंने मुझसे मेरे अन्तरङ्ग जीवन की एक-एक बात—नन्हीं से नन्हीं और प्यारी से प्यारी—पूछ डाली। मानो उन्हें विश्वास हो गया कि मैं उनसे कुछ छिपाऊँगा नहीं—छिपा सकूँगा ही नहीं। फिर वे बराबर कई दिनों तक मेरे सम्बन्ध में सोचते रहे। और उस दिन जब मैं तुम्हारे यहाँ से चलने को हुआ, वे ऐसे खुल पड़े, जैसे किसी सरिता का बाँध टूट गया हो और उसके जल-प्लावन से सारा-का-सारा निकटतम प्रान्त निस्स्राव-निस्पन्द हो गया हो। एकान्त में बुलाकर उन्होंने मुझसे कहा—

मैं नहीं जानता था जगत्, कि यह सारा विश्व क्या है, और हम क्या हैं। अपने को पहचान लेने के बाद मेरे जीवन के ये अगले तीस वर्ष निरन्तर संघर्ष करते बीते हैं। एक-एक पाई का मैंने हिसाब रक्खा और उसकी प्राण-पण से रक्षा की। फिर भी मैंने देखा, मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। फिर तुमको निकट से देख पाने पर तो मैं अपने-आपको खोता ही चला

जा रहा हूँ। आज मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मेरी यह सारी एकान्त सत्यनिष्ठा एकदम क्षुद्र है—नितान्त तुच्छ। मैं नहीं जानता था जगत्नारायण, कि तुम इतने उच्च आसन पर विराजमान हो। मैंने कल्पना भी न की थी कि कोई व्यक्ति इतना न्यायशील हो सकता है! तुमने अपने लिए प्रकट किया था कि मैं आर्थिक दृष्टि से आशा के अयोग्य हूँ। किन्तु यही बात, मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे लिए गौरव का कारण बन गई। तुमको पाकर, सचमुच हम लोग कृतार्थ हो जायँगे! मैंने सुना, तुमने वह चेक वापिस कर दिया था। वास्तव में वह भेंट तुम्हारी मर्यादा के अनुकूल न थी। बताओ जगत्, तुम्हारी आवश्यकताएँ कितने में पूर्ण हो सकती हैं। इस समय मेरे पास एक लाख पैंतिस हज़ार रुपये नक़द मौजूद हैं। इसके सिवा लगभग दस सहस्र रुपये आमदनी की ज़मींदारी भी है। तुम चाहो तो यह सारा-का-सारा तुम्हारा हो सकता है। अभी, इसी समय! मुझे कुछ न चाहिए, यह सारा कुटुम्ब तुम्हारा है। तुम्हीं इसके एकमात्र उत्तराधिकारी हो। मैं अपने-आपको एक साधारण सदस्य की तरह रखने के लिए तैयार हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो?

मैंने कहा—बाबू, आप पिता के तुल्य हैं। आपका यह समर्पण आपकी महत्ता और आपके अगाध उदार हृदय का परिचायक है। किन्तु मैं नहीं मानता कि आत्मीय सम्बन्ध

स्थापित करने के लिए यह अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है कि कुछ ग्रहण ही किया जाय। आप मुझे अपना ही समझें, मेरे लिए यही बहुत है। आपकी इस सहृदयता के कारण मैं कितना आभारी हुआ, कैसे बतलाऊँ? पिता, आप विश्वास करें मैं आप ही का हूँ।

उस दिन की, बाबूजी की ये बातें रह-रहकर फिर याद आ रही हैं। मैं मानता हूँ, यह उनकी भाव-प्रवणता थी। और मैं यह भी मानता हूँ कि मनुष्य में यह एक उन्माद हुआ करता है। किन्तु आशा, यह मानवात्मा के स्वरूप का 'बैकग्राउंड' है; क्योंकि अन्ततो गत्वा भाव-प्रवणता मानवी प्रकृति का एक गुण है, मनुष्य के निर्मल, निर्विकार अन्तस्तल की शुभ्र ज्योति। जो लोग केवल ग्रहण करना ही जानते हैं, जिन्होंने सर्व्वस्व-समर्पण के अलौकिक आनन्द का कभी अनुभव नहीं किया, वे मानव-जीवन की चरम तृप्ति से वंचित रह गये हैं। ज्ञानार्जन की दृष्टि से वे सर्वथा निष्फल और निष्प्रभ हैं। सब कुछ संग्रह करके भी वे कुछ ग्रहण नहीं कर सके, कुछ प्राप्त नहीं कर सके। राजा होकर भी वे भिक्षुक ही बने हुए हैं।

किन्तु इस सुधार्णव की सृष्टि का सारा श्रेय तुम्हीं को है। तुम मेरे निभृत निकुञ्ज की रानी हो आशा। तुम्हीं से मैंने विमल जीवन की यह प्रेरणा पाई है। आह! मेरे पिछले पत्र से तुम इतनी मर्माहत हो उठीं कि तुम्हें मूर्च्छा आ गई।

मेरी चिन्तनशील प्रकृति की एक जाग्रत् छाया से भी तुम काँप उठीं ! जिसने अखिल मानव-सृष्टि की रचना में चरम निर्ममता प्रदर्शित की, उसी विश्वकर्मा ने तुम्हें ऐसा कोमल, ऐसा भावुक बनाया ! विलक्षण—अद्भुत !

इस समय जब ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, बाबूजी का वह तार मेरे सामने है, जिसे पाकर मैं तुम्हारे यहाँ गया था। तुम्हारे मूर्च्छित कलेवर का प्रतिबिम्ब उसमें अब तक झलक रहा है ! सोचता हूँ, फिर कभी तुम मेरे पत्र से इतनी प्रभावोत्पीड़ित न हो उठो ! क्योंकि चाहे जो हो, तुम मेरे जीवन की एकमात्र आशा हो, आशा।

तुम्हारा—

आशा-जगत्

(४)

मदिरालय, कानपुर

३।८।३७, रात्रि ८ बजे

मेरी आशा,

यहाँ आज इस अभिप्राय से आया हूँ कि अपने-आपको भुलाकर या सुलाकर रक्खूँ। एक भयंकर आँधी आई हुई है। और मेरी आँखों में धूल के कण आ-आकर मुझे बरबस यहाँ खींच लाये हैं; किन्तु तुम इसका कुछ ख़याल न करना आशा। मैं चाहे जिस स्थिति में रहूँ; देखूँगा एक अपनी आशा की ही ओर।

अभी थोड़ी-सी ही पी सका हूँ; क्योंकि तुमको यह पत्र लिखना है। किन्तु आज मैं जब पीने बैठा हूँ, तब तुम मुझसे घृणा न करना आशा। मैं जीवन को भी एक प्रकार का नशा ही मानता हूँ। मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ कि इस पत्र को पढ़ लेने पर यदि तुमको मर्मान्तक पीड़ा पहुँचे, तो तुम भी अपनी रक्षा इच्छानुसार कर सकती हो।

किन्तु तुम पीना मत आशा। तुम्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। तुम स्वतः भी तो वारुणी हो। तब तुम एक बार अपने आपको ही पी जाना, अपने-आपमें ही लीन होकर देखना। देखना कि जगत् को यह हो क्या गया है? वह लिख क्या रहा है? किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता आशा, कि तुम इस जगत् की मानसिक स्थिति को यथार्थ रूप में देख पाओगी।

पिछले पत्र में मैंने लिखा था—इस मैनेजर से मैं बड़ा आकृष्ट हो रहा हूँ। आज प्रातःकाल मैं उसके बँगले पर गया था। उसने मुझे चाय के लिए आमन्त्रित किया था। चाय-पान के क्षणों में मैंने जो उसकी मुद्रा का अवलोकन ध्यान से किया, तो वह मुझे अत्यन्त दुखी प्रतीत हुआ। उसकी आँखों में अश्रु छलछला आये। उस रूम में एक इन्लार्जमेन्ट (फ़ोटोग्राफ़) टँगा हुआ था। उस समय वह उसी ओर देख रहा था। उसकी ओर जब वह एकटक देखता रहा, तो मुझे भी उस फ़ोटोग्राफ़ की ओर देखना ही पड़ा।

उसका नाम रमेशचन्द्र है। उसके पिता एक आई० सी० एस० हैं। वह यहाँ अकेला रहता है। कभी उसकी माँ उसके साथ रहती है, कभी बहन। बहन के दो बच्चे भी हैं। वह अब इलाहाबाद, अपने पिता के पास, नहीं जाता। हाँ, उसके वे (अधेड़) पिता ही कभी-कभी उसके पास आकर उसे देख जाते हैं।

मैं इस रमेश को समाप्त करके छोड़ूँगा। यह मुझे समझता क्या है? इसने मुझे अपने यहाँ चाय के लिए क्यों आमंत्रित किया? मेरा अपमान करने के लिए ही न? यह मुझे पागल कर डालना चाहता है! यह मेरे बलिदान का भूखा है! मैं मानता हूँ कि तुम्हारे सम्बन्ध को इससे बतला-कर मैंने ग़लती की है। लेकिन उसका यह आचरण है तो उसकी प्रतिहिंसा-वृत्ति का ही परिचायक। इसी लिए मैंने निश्चय कर लिया है, मैं जान पर खेल जाऊँगा। मैं उसे मारूँगा, ज़रूर मारूँगा। उसका यह प्रकट करना क्या अर्थ रखता है कि वही एकमात्र आशा का आदर्श प्रेमी है? फिर इस 'वन-साइडेड लव'—एकतरफ़ा प्रेम—का मूल्य ही क्या है? पिशाच कहीं का! उसे मेरी आशा की ओर देखने का अधिकार ही क्या है?

तुम इस रमेश से परिचित हो आशा? मैं चाहता हूँ, इस पत्र का उत्तर, तुम 'हाँ' या 'ना' शब्द में, तार से, दो। मैं कैफ़ियत नहीं चाहता; मैं तो केवल उत्तर चाहता हूँ।

लेकिन अगर तुम्हारी इच्छा उत्तर देने की न हो, तो चाहे तो उत्तर न भी देना। तुम्हारे मौन को भी मैं एक उत्तर मान लूँगा।

क्या मैं इस सर्विस को त्याग दूँ, जिसमें रमेश जैसा हिंसक मैनेजर मुझे मिला है? मैं कुछ सोच नहीं पाता। मेरी बुद्धि और विवेकशीलता साथ नहीं दे रही है। मैं अपनी स्थिति का तुम्हें कैसे परिचय दूँ! मेरे जीवन का एक-एक क्षण अनिश्चित है। अगले ही क्षण में मैं क्या सोचूँगा, कहाँ जा पहुँचूँगा—कह नहीं सकता।

इस दशा में क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगी आशा?

बात यह है कि मैं अभी तक असभ्य ही बना हुआ हूँ। मैं प्रेम को जीवन-रूपी रजिस्टर की खानापूरी नहीं मानता। मैं तो उसे जाग्रत् आत्मा की एक अमर ज्योति मानता हूँ। मैंने घूम-फिरकर इधर-उधर से, मालूम नहीं कितने प्रकार से सोच-साच-कर, यही स्थिर कर पाया है कि इस अखिल जगत् में यदि कोई अक्षय तत्त्व है, तो वह केवल प्रेम है। मुझे आज साफ़-साफ़ बतलाओ आशा, इस विषय में तुम्हारा क्या विश्वास है? आतुरता में मैं कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता, जिसके लिए आगे चलकर मुझे किसी प्रकार का पश्चात्ताप हो।

तुम्हारा—

अस्थिर जगत्

(५)

प्रातः समीर, कानपुर
७।८।३७, ६॥ बजे

आशा प्यारी,

घटनाओं के इस घटाटोप को तो देखो। यहाँ आते-आते मैंने सुना, मैनेजर ने कहला भेजा था कि जैसे ही आवें, तुरन्त मेरे पास भेज देना। किन्तु मैंने उसके निकट जाना उचित नहीं समझा। त्याग-पत्र भेज दिया है। मुझे अब उसका मुँह देखना भी स्वीकार नहीं है। अपने इस निश्चय से विचलित होना मैं अपनी कायरता समझता हूँ।

मनुष्य ईर्ष्यालु प्राणी है, मानता हूँ। उसके मन की स्थिति कब क्या होगी, कोई नहीं कह सकता। थोड़ा-बहुत पशुत्व और देवत्व सबमें होता है। किसी में कुछ कम, किसी में कुछ ज़्यादा, यह भी मैं मानता हूँ। किन्तु जब वह दानव हो जाय, छीना-झपटी पर कमर बाँध ले, तब उसकी गति कहाँ है? तब उस पर दया क्यों की जाय, उसे क्षमा क्यों किया जाय? वह तो नरक का कीड़ा है, उसे मसल ही डालना चाहिए।

रमेश ने वह काम किया है, जिसके लिए उसे कुत्ता बनना पड़े, तो भी मुझे दुःख न होगा। निरन्तर सोच-साचकर मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि उसके सम्पर्क में मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता। रात-दिन उसके प्रति चरम घृणा से

आकण्ठ डूबा रहकर मैं कोई काम नहीं कर सकता। सुख-संतोष की एक साँस भी मेरे लिए दुष्कर है।

इस बार तुम्हारे यहाँ से लौटकर मैं अपने-आपको कुछ बदला हुआ देख रहा हूँ। दूसरों को देखना तो सरल है आशा, अत्यन्त सरल; किन्तु अपने-आपको देख पाना कितना कठिन है, मैं प्राय: इसी के संधान में रहा करता हूँ। मुझे अब यहाँ कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। यही जी चाहता है कि इलाहाबाद और कानपुर के इस अन्तर को, कर सकूँ तो, निमेषमात्र में समाप्त कर दूँ। या तो इलाहाबाद दौड़ा आकर कानपुर के कन्धों से चिपक जाय, या कानपुर ही कल्पना-विहग के पंखों से उड़कर, निमेषमात्र में, इलाहाबाद के पीछे खड़ा होकर, इस तरह अपने दोनों हाथ बढ़ा दे कि उसकी अँगुलियाँ, उसके भीगे पलकों पर जा पड़ें। और तब उनका स्पर्शमात्र इलाहाबाद के विकल विकर्षण का कारण बन जाय।

पिछला पत्र मैंने कितनी आतुरता में लिखा था, तुमको मालूम ही है। उसमें मैंने अपने आपको खो दिया था। मुझे अपनी सद्बुद्धि और विवेकशीलता पर कुछ अधिक अहंकार भी हो गया था, मैं मानता हूँ। किन्तु बाबूजी ने उसे कैसी सुन्दरता के साथ सँभाला! उन्होंने मुझे फ़ोन पर ही बुलाया। मैं उस समय हतप्रभ हो गया, मेरी हृद्गति अत्यन्त

तीव्र हो उठी। किन्तु उनके आत्मीय व्यवहार, निश्छल स्नेह और अटूट धैर्य ने मुझे वशीभूत कर लिया। वे बोले—

"सुनो जगत्, आशा के प्रति, तुम अपने हृदय में, किसी प्रकार के सन्देह-कीट को न टिकने देना। तुम नहीं जानते, रमेश कितना नीच है! वह मधुकर बनने में मानव-जीवन का चरम सुख मानता है। पापात्मा!—यह नहीं सोचता कि अन्ततः है तो यह कीट-वृत्ति ही। रह गई आशा। सो उसने एक क्षण के लिए भी उसे नहीं चाहा। मैं यह मानता हूँ कि अकसर वह मेरे बँगले पर आया है। कभी-कभी वह हम लोगों के बीच चाय-पान में भी सम्मिलित हुआ है। किन्तु वह हम लोगों का आत्मीय कभी नहीं बन सका।···आशा का वह फ़ोटोग्राफ़—वीणापाणि का कहना है कि—रमेश मेरे यहाँ से उठा ले गया था।"

"किन्तु इस समय मैं एक दूसरी बात भी तुमसे कहना चाहता हूँ। तुम उस पर ज़रा ठंडे दिल से विचार करना। यह जो हमारा आज का स्वरूप है, इसको अतीत की आँखों से क्यों देखा जाय? जो कुछ अतीत है, आज के हम उसके भविष्य हैं। इस काल के एक-एक क्षण को जब हम अतीत की ओर फेंकते हैं, तब भविष्य की ही ओर हमारी दृष्टि रहती है। किन्तु यदि हम वर्तमान पर अतीत को लादकर चलें, तो हम आगे बढ़ेंगे कैसे?—भविष्य को हम पायेंगे कहाँ? हमको भारानत पाकर क्या वह हमारी प्रतीक्षा में खड़ा रहेगा? हम

ग़लतियाँ करते हैं और उनसे पाठ-ग्रहण करके अपनी आत्मा को निर्मल करते हुए आगे बढ़ते हैं। इस दशा में क्या यह उचित है कि हम अपने नवल जागरण पर भी अपनी भूलों का कल्मष डाल-डालकर अपनी दृष्टि को धुँधला बना लें ? यह तो एक प्रकार का उन्माद हुआ ! न यह हमारी आज की विवेकशीलता हुई—न विकसित मानवता। यह तो पिछड़े हुए युग का संस्कारजन्य अधःपात है !

"क्या सोचते हो जगत् ? ऐं !...अच्छा सुनो। आशा विष-पान करने जा रही थी। संयोग से उसकी माँ उसी क्षण उसके पास जा पहुँची। इस तरह भगवान् ने उसे बचा लिया। किन्तु वह रह-रहकर मूच्छित हो जाती है। आज तुम्हारा पत्र पाने के बाद अब तक वह दो-तीन बार मूच्छित हो चुकी। ओह ! तुम रोते हो ! अच्छा, नेक्स्ट ट्रेन से चले आओ। तुमको अपने निकट पाकर आशा को भी नया जीवन मिलेगा। घबराने की ज़रूरत नहीं है। ईश्वर मंगलमय है—मंगलकर।"

वहाँ रहकर ये सब बातें, इतने विस्तार से मैं तुमसे कह न सका था। किन्तु तुमने अनुभव किया ही होगा, बाबूजी कितने दृढ़, धैर्यशील और महान सिद्ध हुए ! ओह ! उन्होंने मुझे जीत लिया। मैं सदा के लिए उनका हो गया ! फ़ोन करते समय उन्हें जैसा उद्विग्न रहना चाहिए था, उससे भी अधिक वे दृढ़ और धैर्यशील प्रमाणित हुए।

लेकिन आशा, तुमने केवल सुकुमारता को ही अपनाकर अच्छा नहीं किया। अपने पिता की यह दृढ़ता भी तुमको ग्रहण करनी चाहिए। सत्य तो बड़ा कठोर वस्तु है, तुम्हें इस ओर भी देखना पड़ेगा। उसके इस शाश्वत स्वरूप पर तुम्हारी दृष्टि क्यों नहीं गई? उस समय इतना घबराने की क्या आवश्यकता थी? तुमको मुझसे इतना ही प्रकट कर देना चाहिए था कि "रमेश! हाँ, मैंने उसका नाम सुना है; किन्तु मैं उसको जानती नहीं। मैंने कभी उसको जानने की चेष्टा भी नहीं की।"

बात यह है आशा, कि अपराधी न होने पर भी जो लोग अपनी सफ़ाई नहीं देते और निरे अहंकार की ही भावना में डूबकर उसके दुष्परिणाम तक को स्वीकार कर लेते हैं, वे यह नहीं सोचते कि उनके इस अवाञ्छित उत्सर्ग का जगत् को कुछ भी परिचय नहीं मिलता। अतएव वे न तो संसार का ही कुछ कल्याण-साधन कर पाते हैं— न स्वतः उनकी आत्मा को ही चिरशान्ति मिलती है!

किन्तु यह पत्र अधूरा रह जायगा, यदि आज दोपहर के बाद घटी हुई एक घटना का उल्लेख, मैं यहाँ, इसी क्षण न जोड़ दूँगा।

जिस रमेश के सम्बन्ध में, इस पत्र में, मैंने प्रातःकाल अत्यन्त कटु भाषा का प्रयोग किया था, आफ़िस में सुना— वह पागल हो गया! साथ ही मैनेजिंग-डाइरेक्टर ने मेरा

त्याग-पत्र स्वीकार न करके उसके पद पर मुझको प्रतिष्ठित होने को विवश किया। अब से मेरा वेतन भी दो सौ रुपये मासिक हो गया। और यह सब हुआ उसी रमेश की एक चिट्ठी के कारण, जो वह चलते-चलाते मैनेजिंग डाइरेक्टर के नाम लिखकर फ़ाइल में रख गया था।

बताओ आशा, इस मानव-चरित्र के सम्बन्ध में अब तुम्हारा क्या मत है! क्या रमेश, वास्तव में हम लोगों की घृणा का पात्र है?

सदा के लिए, आशा,

तुम्हारा जगत्

बरात में

अखिल दिनेश का फुफेरा भाई है। वह विवाहित है। दिनेश उसको श्रद्धा की दृष्टि से देखता आया है। वह उसकी बात को, जान पड़ता है, इसी लिए टाल नहीं सका। अन्यथा क्या वह समझता नहीं है कि उसके ये परीक्षा के दिन हैं। ऐसे समय में वह बरात क्यों करे? माना कि बरात भी आवश्यक है। क्योंकि उसके साथ सुशील का सम्बन्ध है और मौसी को देखते हुए उसकी माँ का भी सम्बन्ध है। किन्तु उसकी परीक्षा का उसके जीवन के साथ जो सम्बन्ध है, वह भी तो साधारण नहीं है। इस प्रकार दिनेश, अखिल के आग्रह से, सुशील की बरात में आ तो गया, पर वह बराबर यही सोचता रहा कि उसने विवेक से काम नहीं लिया। इस समय तो उसे परीक्षा को ही देखना था; क्योंकि उस समय की उसकी यही एकमात्र साधना है, तपस्या।

किन्तु दिनेश करता क्या? वह चारों ओर से बिंध जो गया था। एक तो अखिल ने उसे विवश कर दिया। उसे लिख दिया कि अगर तुम न गये, तो मैं भी न जाऊँगा। इसके सिवा उसकी माँ का पत्र आया, जिसमें स्पष्ट शब्दों में उसने लिखा था कि यदि तू सुशील के विवाह में सम्मिलित न

होगा, तो लल्ली बहुत बुरा मानेगी। इस प्रकार दिनेश को सुशील की बरात में सम्मिलित होकर आना ही पड़ा।

गैस के हण्डों की, रात को भी दिन की धूप-सी उज्ज्वल कर देनेवाली रोशनी में एक हाथी पर सवार होकर, दिनेश अखिल और सुशील के साथ जा रहा है। हाथी के तेज़ चलने में जल्दी-जल्दी उसके दोनों ओर के घण्टे बज रहे हैं। रात के घोर सन्नाटे में, घण्टों का वह निर्घोष सुशील और अखिल के लिए अतीव प्रीतिकर है, किन्तु दिनेश के लिए वज्रादपि कठोर। तीनों पास ही पास बैठे हैं। जब कोई गाँव सड़क के किनारे आ जाता है, बाजे बजने लगते हैं, तब महावत हाथी की गति को मन्द कर देता है। बाजों के गगनभेदी नाद, हण्डों की रोशनी में दूर से चमकनेवाले रथ, मझोली, सेजगाड़ी आदि परोहन और उनमें बैठे हुए बराती—इन सबको क्रमागत रूप से देख-देखकर ग्रामवासी लोग अपने भोले कुतूहल को जब किसी प्रकार संवरण नहीं कर पाते हैं, तब बच्चों तथा स्त्रियों को लेकर बाहर निकल पड़ते और कतार बाँधकर एकटक खड़े देखने लगते हैं। क्या अवगुण्ठनवती नववधुएँ, क्या अर्धनग्न वृद्धाएँ—क्या हँसते, किलकारी मारते और तर्जनी से इङ्गित करते हुए बाल-शिशु और क्या कलहास-विलोड़ित किशोर बालिकाएँ, घरों और झोपड़ियों से निकल-निकलकर बरातियों को देखतीं और आँखों-ही-आँखों में आदर को खोजती हैं। दिनेश कभी उनको देखता है और

कभी सुशील को। किन्तु वह कुछ बोलता नहीं है। चुप ही रहता है। वह केवल सुनता जाता है कि अखिल और सुशील क्या बातें करते जाते हैं।

इधर-उधर की बातों के पश्चात् एकाएक अखिल कह उठा—सुना है दिनेश, इन लोगों के साथ तुम्हारा दूर का कोई रिश्ता भी निकलता है।

"हाँ, निकलता तो है।"

"तो तुमने उस लड़की को देखा भी होगा।"

"देखा है।"

"क्या राय है ?"

"सुशील भैया के अनुकूल ही तो है; कल्पना से भी अधिक कमनीय और आशा से भी अधिक प्राणमयी।"

दिनेश की बात सुनकर अखिल और सुशील दोनों एक दूसरे की ओर देखने लगे। सुशील के होठों में हास आप ही आप मुखरित हो उठा। अखिल ने उसकी कमर में चिकोटा लेकर कहा—अब बोलो सुशील ?

किन्तु दिनेश ने उस ओर लक्ष्य नहीं किया। वह अन्यत्र चला गया। वह कोई बात छिपाये क्यों ? वह मौन क्यों रहे ? माना कि इन प्रश्नोत्तरों से उसका अन्तःकरण हिल गया है। तो भी क्या उसे इतना ईर्ष्यालु होने की आवश्यकता है कि वह सारी बातों को जानता हुआ भी एकदम से अबोध बन जाय ? माना कि वह ईर्ष्यालु भी है थोड़ा-सा। तो भी वह

सुशील और अखिल के सामने इतना क्षुद्र नहीं बनना चाहता। तभी तो उसने अपनी ओर से कोई बात छिपाई नहीं, कुछ इधर का उधर नहीं किया, कुछ अपनी ओर से मिलाया भी नहीं; जैसा-का-तैसा, ज्यों-का-त्यों, उनके समक्ष रख दिया। उसने स्थिर कर लिया, वह आगे भी ऐसा ही रहेगा।

बरात को लेकर जब हाथी सुशील की ससुराल के ठीक द्वार पर आ गया, तो दिनेश चतुर्दिक् देखने लगा। सुशील उतर गया। उसका विधिवत् तिलक हुआ। शास्त्रीय विधान और समाजगत प्रचलन के अनुसार पण्डितों और प्रमदाओं ने श्लोकों और गायनों के साथ उसका माङ्गलिक अभिनन्दन किया। दिनेश चुपचाप सब कुछ देखता रहा। उसने लक्ष्य किया, यह ध्वनि छोटी मामी की है, यह बड़ी मामी की।

और रजनी ?

छिः !

देखो तो दिनेश पागल हो गया। वह इस वृन्द में रजनी को खोजने लगा ? किन्तु वह उस समय वहाँ हो ही कैसे सकती थी ?

द्वाराचार समाप्त होने पर बराती अपने-अपने स्थान पर आगये। बाजे बजने बन्द हो गये। भोजन की व्यवस्था की गई। लोग एक दूसरे की ओर मुँह करके, दो पंक्ति बनाकर बैठ गये। दिनेश, अखिल और सुशील पास-पास

बैठे। चञ्चल नवयुवकों की टोलियाँ यत्र-तत्र चहकने लगीं। एक तो नवयुवक, जिनके सात ख़ून माफ़ माने गये हैं; अगर्चे उनमें मुसकान-माधुरी और व्यङ्ग्य-विनोद, फब्तियाँ और मस्तों के घात-प्रतिघात हों। फिर विवाहोत्सव और उसका प्रथम दिन! और उस समय तो दिन भी नहीं था, रात थी। अधेड़ भी अपने चेहरों में चाञ्चल्य अनुभव करने लगे। वे भी शृङ्गहीन मृग-शावक बन गये। और वृद्ध? वे मौन रहे क्योंकि आज का दिन उनका अनुशासन अपने आप भङ्ग हो जाने का अभ्यासी है। इसी लिए वे यदा-कदा मुसकरा उठते।

बरात में जो कोई भी वर का मामा है, मानों वह समस्त नवयुवक दल का मामा है। सभी उसे 'मामा' सम्बोधन करते हैं। चाहे, वह किसी-किसी का कोई और क्यों न होता हो, सम्बोधन में न सही, व्यवहार में ही सही। क्योंकि साथियों के साथ-साथ वह अपने हास को रोकेगा कैसे?

सुशाल के मामा का नाम है लोचनप्रसाद। ये लोचन-मामा जिधर विराजमान होते, नवयुवकों की दृष्टि उधर एक साथ आकृष्ट हो जाती।

भोज की पारस हो रही थी। सुरेन्द्र ने एकाएक खाँस दिया। वह लोचन-मामा की ओर देखने लगा। अखिल ने उसका समर्थन किया। उसे भी खाँसी आ गई। फिर क्या था, अनेक व्यक्तियों को जैसे क्रमागतरूपेण खाँसी आने लगी। अखिल बोला—लोचन-मामा को ज़ुकाम हो

गया है। वे आज खाना कम खायेंगे। घी से बनी मिठाइयाँ ख़ास तौर से उन्हें नुक़सान पहुँचायेंगी। कचौड़ी खाँसी बढ़ायेगी, आलू ख़ुरकी लायेगा। वे सिर्फ़ कद्दू का शाक खायँगे!

दोनों पंक्तियों में, एक छोर से दूसरे छोर तक एक लहर-सी दौड़ गई। विनय, विपिन, अविनाश, किशोर आदि सबने परोसनेवालों से कह दिया, पृथक्-पृथक् प्रकार से, विविध भाँति से कि लोचन-मामा का ज़रा ख़याल रखिएगा; क्योंकि उन्हें ज़ुकाम हो गया है और रसना-विलास में वे आवश्यकता से अधिक अग्रणी हैं। बरात है, तो क्या हुआ, उनके स्वास्थ्य का ख़याल तो हम लोगों को रखना ही है। निदान, लोचन-मामा इस बात की सफ़ाई देते-देते परेशान हो गये कि ज़ुकाम उन्हें नहीं हुआ है, क़तई नहीं हुआ है। यहाँ तक कि उन्हें गङ्गाजी की शपथ तक लेनी पड़ी, तब कहीं इस षड्यन्त्र की समाप्ति हुई। उपस्थित समुदाय के पेट तो हँसते-हँसते फूल ही गये, सिर की नसें तक तनकर प्रफुल्लित हो उठीं!

पारस समाप्त हो जाने पर भोज प्रारम्भ हुआ। दिनेश मौन ही बना रहा। उसने इस परिहास-प्रसङ्ग में कोई भाग नहीं लिया। वह कुछ देख रहा था—कुछ खोज रहा था। वह बाहर भी गया और भीतर भी बना रहा। उसे कुछ बातें याद आने लगीं।

*　　　*　　　*

उस समय रजनी छोटी थी, बहुत छोटी। और दिनेश? वह खुद भी कुछ छोटा था। छोटा क्या—अबोध, संसार के ज्ञान से शून्य। रजनी वय में छोटी थी सही, पर ज्ञान में वह तब भी ऐसी अधिक छोटी न थी।

दिनेश अपने स्कूल के साथी छात्रों के साथ घूमने गया था। लौटते हुए वह बरेली उतर पड़ा। वहाँ उसकी मामी का नैहर है। संयोग की बात, उसकी मामी की बहिन उस समय वहीं थी। दिनेश तीन दिन के लिए वहाँ ठहर गया। यों उसने कई बार सोचा कि दूसरे दिन ही उसे चला जाना चाहिए; पर जब उसकी छोटी मामी ने अतिशय आग्रह किया, तब वह ठहर जाने के लिए विवश हो गया।

जिस समय दिनेश वहाँ पहुँचा, उस समय रात हो गई थी। दस-पाँच मिनट उस छोटी मामी से बातें करके वह तीसरे खण्ड की छत पर चला गया। गरमी के दिनों में, विशेष रूप से रात को, ऊँची अट्टालिकाओं पर, खुले निरभ्र अम्बर में, शीतल वायु के झकोरे लेना दिनेश को अत्यधिक प्रिय है।

अभी दिनेश सबसे ऊपरवाली छत पर पहुँचकर कपड़े उतारकर, एक ओर रख ही रहा था कि रजनी आ पहुँची। उसके एक हाथ में नक्क़ाशीदार शीशे की तश्तरी थी, जिसमें कुछ मिठाइयाँ थीं। दूसरे हाथ में शीशे का गिलास, जिसमें

शीतल जल था। वह बोली—कुछ खा लो दिनेश भैया, तब तक खाना भी तैयार हुआ जाता है।

एकाएक एक नई, न कभी देखी न सुनी—न परिचय में आई—बारह-तेरह वर्ष की बालिका के द्वारा ऐसा शिष्ट और मृदुल कथन सुनकर वह स्तम्भित हो उठा। चाँदनी रात के उस शीतल आलोक में, वह उस भोली बालिका को अपलक देखता रह गया। वह कुछ कहने ही वाला था कि तब तक रजनी नीचे चली गई। किन्तु थोड़ी देर में फिर आ पहुँची। अबकी बार उसके हाथ में चार बीड़े पान थे। डली अलग। आते ही बोली—अरे! आपने अभी तक कुछ खाया नहीं, मैं पान लाने चली गई थी।

दिनेश बोला—अकेले मुझसे कुछ खाया नहीं जाता। अच्छा ही नहीं लगता। लो, थोड़ा-सा तुम भी लो।

"वाह! मैं क्यों लूँ? मुझे भूख नहीं है, इच्छा भी नहीं है। आप बाहर से आ रहे हैं, थके होंगे, भूखे भी होंगे ही। इसके सिवा ...।"

उसने पूछा—हाँ इसके सिवा?

"मेहमान हैं।"—कहने के साथ ही रजनी मुसकराने लगी।

दिनेश ने लक्ष किया—बालिका में प्रतिभा है। वार्तालाप में वह अभी से निपुण है।

उसने पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

टहलती हुई रजनी छत की दूसरी ओर चली गई थी। उधर आकर बोली—बड़ी गरमी पड़ रही है। इस वक्त तो ज़रा हवा भी डोलने लगी है। अन्यथा गरमी इतनी पड़ती है, इतनी कि...।

उसी क्षण दिनेश ने फिर पूछना चाहा कि तुम्हारा नाम क्या है?

किन्तु रजनी अपनी बात कहती ही गई—लिखना-पढ़ना तक मुश्किल हो जाता है। पसीने के मारे पुस्तकें तथा काग़ज़ भीग जाते हैं। अभी से यह हाल है, जब अभी अप्रैल चल रहा है। जून में क्या हाल होता होगा? इससे तो हमारा सहारनपुर तब भी अच्छा है। लेकिन आप क्या जाने कि सहारनपुर कैसा है? वहाँ रहने का मौक़ा ही आपको क्यों लगा होगा? आप तो इलाहाबाद रहते हैं। अच्छा, गरमियों में आप कहाँ रहना ज़्यादा पसन्द करते हैं...? पानी चाहिए? अच्छा, ज़रा ठहरिए। मैं अभी लाती हूँ।

रजनी फिर नीचे चली गई।

दिनेश को प्रतीत हुआ, बालिका बिलकुल तितली-सी है। कैसी फुर्र-सी उड़ जाती है! वाचाल ऐसी है कि अपनी ही कहे जाती है—दूसरे की सुनती नहीं!

थोड़ी देर में ही रजनी शीशे के गिलास में बरफ़ का शीतल जल ले आई। दिनेश ने पानी पिया, पान खाये। फिर पूछा—किस क्लास में पढ़ती हो?

"मैं किसी क्लास में नहीं पढ़ती। मैं तो घर पर पढ़ती हूँ। पहले विद्यालय में पढ़ती थी।"

दिनेश ने पूछा—तुम्हारा नाम क्या है ?

"मेरा नाम सुनकर आप डरेंगे तो नहीं ?"—कहती हुई रजनी हँस पड़ी। उसके कानों में पड़े इयर-रिङ्ग—मोतियों की झालरों को लेकर—डोलने लगे।

दिनेश ने कह तो दिया कि डरूँगा क्यों ? किन्तु रजनी की बात का वैचित्र्य उसके मन से गया नहीं। विस्मयाकुल जिज्ञासा से वह उसकी ओर देखता रह गया। तब रजनी हँसती हुई बोली—मेरा नाम 'रात' है।

* * *

भोजन जब समाप्त होने आया, तो अखिल ने लक्ष किया, दिनेश मौन ही रहा। न तो वह खुलकर हँस सका, न विनोद में ही सम्मिलित हुआ। भोजन भी उसने साधारण रूप से ही किया। तब प्रकट होकर उसने पूछा—भाई दिनेश, यह बात क्या है कि तुम इस तरह मौन बने रहे ? भोजन भी तुमने ऐसा चलता हुआ ही किया।

दिनेश बोला—नहीं तो। मैंने तो खूब डटकर खाया है। व्यर्थ ही तुमको ऐसा सन्देह हो रहा है।

अखिल खुलकर कहने लगा—मुझसे बनो मत दिनेश ! मैं तुम्हें थोड़ा-बहुत पहचानता हूँ। मैं दावे के साथ कह सकता

हूँ, तुम इस समय अनुपस्थित थे—किसी सुदूर देश में, कहीं अन्यत्र विचर रहे थे।

"तो इससे क्या हुआ ? खाने में तो मैंने कुछ उठा नहीं रक्खा। तुलना करके देखो तो पता चले कि मैंने तुमसे कुछ अधिक ही खाया है !"

"पापड़ चाहिए, पापड़ !"

विपिन बोल उठा—दिनेश को पापड़ से चिढ़ है। वह पापड़ नहीं खाता।

दिनेश ने उत्तर देते हुए कहा—रक्खो जी रक्खो, पापड़। इस विपिन के कहने में न आ जाना। एक पापड़ क्या, मैं सारे के सारे हापड़ तक को साफ़ कर जाऊँ !

अखिल और सुशील दोनों हँस पड़े। खिलते हुए अखिल के मुँह से निकल पड़ा—ख़ूब !

भोज समाप्त हो गया। लोग उठकर अपने-अपने पलङ्ग पर आ विराजे।

रात थी ही। लोग सोने लगे। दिनेश भी सोया, किन्तु सोने के साथ-साथ वह जब कभी जगा, तो बराबर एक जाग्रत स्वप्न ही देखता रहा—वही खिल-खिल ! वही बात कि मेरा नाम रात है'''और मेरा नाम सुनकर आप डरेंगे तो नहीं !

इस मन को कोई क्या करे ? चक्की में पीस डाले कि खरल में कूट-कूटकर उसका कपड़छन करके गोली बना-बना

कर सफ़ाचट्ट करवा डाले ! लेकिन कोई अगर ऐसा करने की चेष्टा भी करे, तो सफल कैसे हो ? वह कम्बख़्त जन्मकाल ही से निराकार जो बना बैठा है ! शैतान कहीं का ! देखो तो, बेचारे दिनेश को उसने कैसा परेशान कर रक्खा है ! वह आया है सुशील भैया के विवाह में, और स्वप्न देखता है रात के, रजनी के ! क्या वह जानता नहीं है कि यह सब उसकी दुर्बलता है ? उस दिन के पश्चात् रजनी उसकी स्मृति के घाट पर कभी नहीं उतरी । अकस्मात् जब उसने सुना कि सुशील का विवाह हो रहा है और उसे मिल रही है वह बालिका, जिसने एक दिन उसके समक्ष एकाएक आकर विमल स्नेह के मृदुल दोलन में, कह डाला था—कुछ खा लो दिनेश भैया। जैसे वह आदि काल से ही दिनेश को उसके नाम से ही पुकारती आ रही है और मानो तभी से वह इसकी अधिकारिणी होकर आई है कि आग्रह के साथ, स्नेह से भीगे हुए कण्ठ से कहे—कुछ खा लो। तब एकाएक उसे एक धक्का लगा, वह सोचता ही रह गया कि ऐं, यह हो क्या गया !

लो, ज़रा देखो, यह दिनेश कैसा मूर्ख है ! मूर्ख क्या, बल्कि पागल। वह इस तरह सोचता है, मानो यह कोई असम्भव बात हो ! अरे, एक दिन तो यह होने को ही था। आज हुआ कि कल। उसका इस होनहार में वश क्या था ? और मान लो, कुछ वश होता भी; तो उसने उसके लिए चेष्टा ही क्या की ? उसने चेष्टा भी नहीं की और जब रजनी दूसरे की

हो गई, तो इसमें दोष भी वह उसी पक्ष का देखता है! फिर अब, जब सब कुछ हो गया है, तब वह व्यर्थ ही उस बात को उठा रहा है। यह भी कोई विवेकशीलता है? यह तो कोरी अनधिकार-चेष्टा है, कलुषित—चरम गर्हित।

—तो उसका नाम कुछ और क्यों न हुआ? रजनी अगर दिनेश की नहीं है, तो वह किसी की नहीं है—किसी की नहीं। रजनी से ही दिनेश का गौरव है; क्योंकि उसके भीतर के अन्धकार को प्रकृतिस्थ करनेवाली एकमात्र रजनी ही तो है। न, ऐसा नहीं हो सकता; किसी प्रकार नहीं हो सकता। विवाह होने को है, हो जाय। दिनेश को इससे कोई वास्ता नहीं है। सवेरा होते ही वह मामी के घर जायगा। रजनी उसी की छोरी तो है। वह उससे भी मिलेगा। वह किसी प्रकार नहीं मानेगा। वह मामी से लड़ेगा। कहेगा कि तुमने यह किया क्या? रजनी से भी वह कुछ कहेगा। जो मन में आयेगा, सो कहेगा। वह जो कहना चाहता है, उसे तो कहेगा ही—उसमें तो कोई कसर ही न रक्खेगा। पर जो कुछ उसे न भी कहना चाहिए, चाहेगा तो उसे भी वह कह डालेगा। इसी सङ्कल्प के साथ, अत्यन्त दृढ़ होकर, वह कुछ अधिक विलम्ब से सोया।

उत्तरङ्ग मन की यह आशा भी कैसी पगली है! वह कल्पना का रङ्गमञ्च तैयार करती है और उस पर आ-आकर आप ही आप गाती और नाचती है। कोई सुने तो

क्या कहे ? यही न कहे कि दिनेश पागल हो गया है। पागल और कहते किसको हैं। जिसके घर उत्साह, उल्लास, राग-रङ्ग और परिहास के प्रपात थिरकते हों, चतुर्दिक् जहाँ माङ्गलिक दृश्यावलियाँ ही दृष्टिगत होती हों, वहाँ पहुँचकर कोई अनधिकारी व्यक्ति यह कहे कि इस लड़की का विवाह मेरे साथ होना चाहिए था—बतलाओ क्यों नहीं किया ? तो वह व्यक्ति पागल नहीं तो और क्या समझा जायगा ?

लेकिन क्या दिनेश पागल है ?

सर्वाधिक आनन्द अथवा व्यथा की अबाध अनुभूति ही तो पागलपन का कारण बनती है। और दिनेश लोल लहरों का वासी है। वह आजकल और रात-दिन के प्रकृत उद्गम में कोई अन्तर नहीं मानता। वह केवल सत्य को मानता है। वह मानता है कि जो जिसका है, उसे उसका ही रहना चाहिए—मन और प्राण से। बाहर और व्यवहार से वह कोई रहे और कुछ भी करता रहे, चिन्ता नहीं। परवशता में मनुष्य जैसे बन्दी है, क्षुद्र है, वैसे ही दुनिया की आँखों में भले ही कोई दूसरे का बना रहे। पर हृदय की जो दुनिया है, उसमें यदि वह उसी का है, तो इतना ही उसके लिए यथेष्ट है। वह किसी से और अधिक कुछ नहीं चाहता। वह तो वही चाहता है, जो वह दूसरे से और दूसरा जो उससे चाह सकता है।

प्रातःकाल उठते ही दिनेश ने जो आकाश की ओर देखा,

तो उसे देखता ही रह गया। बाग के अन्दर जिधर दृष्टि जाती, टेण्ट-ही-टेण्ट देख पड़ते थे। शीतल पवन के झकोरे शरीर को छू-छूकर आगे बढ़ जाते थे। अनन्त नीलाम्बर में जलद-बालाएँ फर-फर दौड़ रही थीं। पके और गदराये आमों से लदी शाखाएँ इतनी झुकी हुई थीं कि हाथ उठाते ही मिलने-भेंटने लगती थीं। सहसा उसे स्मरण हो आया कि आज उसे छोटी मामी के यहाँ जाना है। झटपट नित्यकर्म से निवृत्ति पाकर दिनेश वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया।

गोरे, क्लीनशेव्ड, उसके मुख की आभा उस समय कुछ अधिक शोभन प्रतीत होती थी। दुग्ध-फेन-सी श्वेत गांधी-टोपी की दोनों पट्टियों के भीतर से केशों के कुछ काले-काले चमकीले छल्ले से निकल आये थे। बाईं कलाई में, नरम चर्म से मण्डित, एक छोटी-सी सोनहली घड़ी चिपकी हुई थी। पैरों में बद्धीदार चप्पल थे। उनमें बकसुये लगे थे, वे एड़ियों को फेरकर फिट होते थे। खादी की धवल धोती उसके पैरों के अँगूठों तक को छू रही थी। मौन, किन्तु भाव-मग्न होकर वह अभी जाने के लिए तत्पर हुआ था कि अखिल ने टोंक दिया—इस तरह सज-धजकर कहाँ जा रहे हो दिनेश?

"और कहाँ जाऊँगा?"

मुसकराते हुए अखिल बोला—मैं भी चलूँ?

"चलो-चलो; हाँ, तुम भी चलो। अच्छा तो है।"

दिनेश ने कह तो दिया, किन्तु वह जानता था कि अखिल

कभी नहीं जायगा। केवल मेरा भाव देखने के कुतूहल से उसने ऐसा प्रस्ताव किया है।

सुशील उस समय कुछ दोस्तों के साथ बैठा ताश खेल रहा था। इधर उसका ध्यान न था। किन्तु दिनेश ने चलने की बात के साथ जब कह दिया—"अच्छा तो है।" तो हाथ के पत्ते रोककर उसने अखिल से पूछा—क्या बात है? कहाँ जाने की तैयारियाँ हो रही हैं?

अखिल बोला—रात को, मालूम नहीं क्यों, दिनेश से कुछ खाया नहीं गया था। सबेरा होते ही उसे कुछ भूख लग आई। भोजन तैयार होकर आने में शायद कुछ विलम्ब हो, इसलिए सीधा वहीं चला जा रहा है। मुझसे कहता है, तुम भी चलो। बतलाओ, तुमको छोड़कर मैं वहाँ कैसे जा सकता हूँ। मान लो, भोजन आने में कुछ देर हो ही जाय, तो भी हमको इस तरह अधीर तो नो होना चाहिए।

अखिल अपनी बात को अत्यन्त गम्भीरता के साथ कह गया। सुशील ने समझा, वास्तव में यही बात है। किन्तु उसी क्षण उसे स्मरण आ गया कि और कोई जाता, तो हम लोगों की मर्यादा की ओर देखते हुए उसका वहाँ जाना अवश्य ही अनुचित होता, किन्तु दिनेश इस प्रकार के बन्धन से मुक्त है। वह वहाँ जा सकता है। किन्तु इतना सोच लेने पर भी सुशील सत्य-कृष्ण कुछ कह न सका।

उधर दिनेश अब जाना नहीं चाहता। वह कोई ऐसा

काम नहीं करना चाहता, जिसमें किसी ओर से कोई अस्पष्ट विरोध भी हो। इसी लिए वह अपनी बात किसी से नहीं कहता। जब कभी, जो कुछ भी, उसके जी में आता है, उसी तथा वह उसे कर उठाता है। किसी से परामर्श लेकर काम करना तो उसने सीखा ही नहीं है। तब चुपचाप अपने टेण्ट में आकर वह पलङ्ग पर लेट रहा। उसने निश्चय कर लिया कि अब वह वहाँ नहीं जायगा।

किन्तु अखिल भला कैसे मान सकता था! वह थोड़ी देर बाद वहाँ आ पहुँचा। आश्चर्य-चकित मुद्रा से वह बोला—तुम अभी तक गये नहीं। मैंने तो यों ही मज़ाक में कह दिया था। क्या तुम उसका बुरा मान गये? वहाँ से एक आदमी तुम्हें बुलाने के लिए आया था। मैंने उससे यही कह दिया कि दिनेश वहीं अभी-अभी गया है। उठो-उठो, अब तुरन्त जाओ। जल-पान चाहो तो करते जाओ, सामग्री लेकर लोग आगये हैं।

दिनेश उठकर बैठ गया। क्षणभर पूर्व कल्पना के जिस कौतुक को उसने क्षत-विक्षत कर डाला था, अखिल की बात के अन्तिम अंश से जैसे वह फिर ज्यों-का-त्यों, आप-ही-आप, निर्मित होकर खड़ा हो गया। तब अतिशय प्रसन्न होकर उसने पूछा—क्या वास्तव में मुझे बुलाने के लिए वहाँ से कोई आया था?

अखिल बोला—हाँ भई, तभी तो मैं यह चाहता हूँ कि

तुम वहाँ ज़रूर जाओ, जिसमें मेरी बात में अन्तर न पड़े। मालूम नहीं किस अभिप्राय से उन लोगों ने तुम्हें बुलाया हो।

"तो तुम्हारी राय है कि मुझे वहाँ जाना चाहिए?"

"ज़रूर-ज़रूर। इसमें भी क्या अब कोई सन्देह है?"

दिनेश तैयार तो बैठा ही था। तुरन्त उठकर चल दिया। जल-पान भी उसने नहीं किया।

* * *

"आओ दिनेश, बैठो" कहती हुई पास बिठलाकर उसकी छोटी मामी उस पर पङ्खा झलने लगी। फिर बोली—"मैं कल ही से याद कर रही थी। वहाँ कोई तकलीफ़ तो नहीं है?" और भी कुछ स्त्रियाँ इधर-उधर से आकर उसे घेर कर खड़ी हो गईं।

तब उसकी मामी बोली—यह जीजा जी का भाञ्जा है जीजी। बड़ा ज़िद्दी है। कहता है पढ़-लिखकर जब तक ख़ूब पैदा नहीं करने लगूँगा, तब तक विवाह नहीं करूँगा। एफ़० ए० में पढ़ता है।

तुरन्त कोई तश्तरी में मिठाई ले आई, कोई गिलास में जल, कोई अन्यत्र जाकर उसके लिए पान लगाने लगी और किसी ने दिनेश की मामी के हाथ से पङ्खा छीन लिया। वह ख़ुद उस पर ज़ोर-ज़ोर से पङ्खा झलने लगी। उसकी मामी ने परिचित व्यक्तियों में से क्रम-क्रम से सबका हाल-

चाल पूछा। फिर कहा—तुम भले आ गये। मेरी बड़ी इच्छा थी कि तुम ज़रूर आओ। रजनी ने भी कई बार तुम्हारी याद की।

जल-पान करते हुए अपनी ओर से दिनेश चुप ही बना रहा, केवल उत्तर भर देता गया। रात को उसने, इस समय कहने के लिए, जो बातें सोच रक्खी थीं, उनमें से किसी भी बात के कहने की प्रेरणा उसके कण्ठ पर नहीं उतर रही थी। कि उसी क्षण अन्य बातों के साथ उसकी मामी ने कह दिया—रजनी ने भी कई बार तुम्हारी याद की।

निमेष-मात्र में दिनेश अतिशय उन्मन हो गया। उठता हुआ बोला—अब चलूँगा मामी!

किन्तु मामी जब तक कुछ कहे-कहे, चारों ओर से, विविध प्रकार के स्वरों में, उसे सुनाई पड़ा—अभी कैसे जाओगे?...खाना खा लो, तब जाना।....वहाँ जाने की ज़रूरत ही क्या है? यहीं न बने रहो?

और तो सबने कुछ-न-कुछ कहा, लेकिन रजनी कुछ नहीं बोली। उस नमित दृष्टि, चिन्ता-दग्ध मुद्रा और मौन भाव में दिनेश उलझता ही चला गया। वहाँ एक-एक क्षण व्यतीत करना उसके लिए दुष्कर हो गया। निदान, किसी के भी आग्रह का कुछ भी खयाल न करके वह चल दिया। बोला—वहाँ लोग मेरी प्रतीक्षा में होंगे!

मकान के द्वार तक, किवाड़ों की ओट में छिपकर सभी

स्त्रियाँ उसे भेजने गईं। उसकी मामी ने कहा—हो सके तो शाम को भी आना दिनेश !

दिनेश चलने लगा, तो रजनी ने बाहर आकर धीरे से पूछ दिया—शाम को आओगे न ?

"कह नहीं सकता रजनी ! दोस्तों से छुट्टी मिली, तो ज़रूर आऊँगा।"—कह कर रजनी की ओर दृष्टि तक न डाल-कर दिनेश लौट आया।

*　　　*　　　*

अपने वृन्द में आकर दिनेश ने सबसे पहले यह जानना चाहा कि भाँग-ठण्डाई भी तैयार कराई गई है या नहीं। लोचन-मामा इस पार्टी के मुख्याधिष्ठाता थे। अखिल और सुशील के साथ दिनेश उन्हीं के पास जाकर बोला—कहो मामा, क्या देर-दार है ?

"देर-दार कुछ नहीं है बेटा। बस, बैठ जाओ। पाँच मिनट में गिलास होठों से लगा पाओगे।"

अखिल बोला—तुम तो कभी भाँग पीते न थे। यह नया शौक़ कब से पाला ?

"यह शौक़ नहीं है अखिल भैया, यह तो मन की एक तरंग-मात्र है। बहुत दिनों से भाँग पीने का अवसर नहीं आया था। आज जी में आया, जब भाँग तैयार ही की गई है, तो क्यों न उसका स्वागत-सत्कार किया जाय ?"

अखिल ने सोचा था, दिनेश ज़रा देर से आयेगा, किन्तु वह तो एक घण्टे में ही लौट आया। आकर उसने कुछ बतलाने से पूर्व भाँग पीने की जो आतुरता प्रकट की, उसका भी कोई न कोई कारण होगा। उधर पूछने पर दिनेश ने जो उत्तर दिया, वह यद्यपि यथेष्ट संयत होने के अतिरिक्त पर्याप्त स्पष्ट भी है, तो भी उसके साथ मन की तरङ्ग का जो स्पर्श है, वह अकारण नहीं है। इसके सिवा अखिल, दिनेश को चाहता भी अधिक है। वह उसके साथ ठठोली कर लेता है—चाहता है, तो कभी-कभी उससे बुरा-भला भी कह लेता है; किन्तु स्नेह के सम्बन्धों को वह कभी शिथिल नहीं होने देता। इसलिए अपने समुदाय में से केवल दिनेश का ही भाँग पीना उसे कुछ अच्छा नहीं लगा। तब उसने लोचन मामा से कह दिया—हम लोग भी भाँग पीने को तैयार हैं मामा। सुशील भी पियेगा।

किन्तु सुशील उसी समय बोल उठा—मैं भाँग नहीं पीता।

"तो क्या दिनेश भाँग रोज़ पीता है?"—अखिल ने उत्तर दिया।

"दिनेश कुछ करता हो, मुझसे उसकी कार्य-पद्धति का सम्बन्ध क्या? मैं अपने विषय में स्वतन्त्र हूँ। और मैं ही क्या, मैं समझता हूँ, प्रत्येक व्यक्ति अपने विषय में सर्वथा स्वतन्त्र है।"—सुशील बोला।

दिनेश इन लोगों के सामने, इस बरात में, अभी तक मौन ही रहा है। किन्तु प्रकृति का चिन्तनशील होने पर भी वह सर्वथा मौनावलम्बी नहीं है। सुशील की बात के प्रथमांश में पहले उसने तटस्थ शुष्कता का अनुभव किया था। परन्तु उसके निष्कर्ष को सुनकर वह पुलकित हो उठा। उसने कहा—सुशील भैया का विचार सर्वथा उचित है। मैं भी उनके इस मत का समर्थक हूँ। जब उन्हें भाँग पीना अप्रीतिकर होता है, तो उसके लिए अधिक आग्रह करना व्यर्थ है।

"यह कोई सिद्धान्त की बात नहीं है दिनेश! लेकिन अगर हो भी, तो भी मैं जानता हूँ कि मनुष्य का व्यक्तित्व, स्नेह-बन्धन के आगे, सिद्धान्तों की मर्यादा को कहाँ तक अक्षुण्ण रख सकने में समर्थ होता है।"

"तुम यहाँ यह भूले जा रहे हो अखिल, कि मनुष्य का व्यक्तित्व उसके सिद्धान्तों का ही चित्र होता है। दिनेश भाँग पीने का अभ्यासी न होने पर भी ज़बरदस्ती भाँग पी सकता है। अखिल उसका साथ किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता। वह प्रत्येक प्रकार से उसका साथ देने में ही चरम स्नेह का अनुभव करना चाहता है। किन्तु यदि सुशील इन दोनों अवस्थाओं से पृथक् रहकर अपने आचार-विचार से हिलना-डुलना नहीं स्वीकार करता, तो केवल इसी कारण वह स्नेहशील होने से गिरता अर्थात् मानवता से च्युत होता है, यह भी कोई तर्क है?"

इसी समय लोचन मामा ने कहा—झगड़ने की कोई बात नहीं है। भाँग तैयार है। जो पिये सो पछताय, न पिये सो पछताय।"

निमेष-मात्र में सबकी गम्भीरता शिथिल होती हुई देखकर अखिल बोला—दिनेश, तुम भाँग पीने का मोह त्याग नहीं सकते?

दिनेश उत्तेजित हो उठा और बोला—एक भाँग की बात नहीं, मैं तो आवश्यकता पड़ने पर अपने शरीर तक का मोह त्याग करने के लिए सदा तत्पर रहता हूँ भैया! तुम्हारी यदि यही इच्छा है, तो मैं नहीं पिऊँगा। आओ, चलो चलें।

तीनों चल पड़े। अखिल अब भी उत्तेजित बना हुआ था। वह बोला—तुम सोचते होगे सुशील, यह स्नेह पर सिद्धान्त की विजय है। लेकिन अभी तुम यह न जान सकोगे कि सिद्धान्त मसल डाले जाते हैं, जब स्नेह अपने अधिकार का प्रयोग करता है। एक समय आयेगा, जब तुम इसे अनुभव करोगे।

सुशील तब भी चुप ही रहा। अखिल की बात का उत्तर देना उसने उचित नहीं समझा। किन्तु वह बराबर यही सोचता रहा—स्नेह आज है, कल वह नहीं भी रह सकता है; किन्तु सिद्धान्त सिद्धान्त हैं—वे अक्षय होते हैं, शाश्वत।

*   *   *

दिनेश रजनी के यहाँ से लौट आने के पश्चात् बराबर यही सोचता रहा कि वह अब वहाँ नहीं जायगा। एक तो रजनी दूसरे की हो चुकी है, उसकी ओर दृष्टि डालना, उससे मिलना और बातें करना, बातें करके उसके मन-प्राण को व्यर्थ ही में विकल विकम्पित करना सर्वथा अनुचित है। दूसरे, मामी के जिस सरल विमल स्नेह का वह अधिकारी है, उससे वञ्चित होना भी तो सर्वथा अप्रीतिकर है।

इस प्रसङ्ग में कभी-कभी उसने सुशील की ओर भी देखा। प्रकृति में सागर की भाँति गुरु गम्भीर, अपनी धारणाओं का लोह-स्तम्भ। अपने व्रत से टस से मस होना उसने जाना ही नहीं। विचार-जगत् में कितना उच्च और सौजन्य में कितना महान्! दिवाकर की भाँति जो वरेण्य है, जिसकी ओर देखते-देखते शिष्टता और विचार-शीलता की छाप लगती है, ऐसे सुशील की कल्पना के क्रोड़ की ओर वह क्यों दृष्टि डाले?

किन्तु ज्यों ही छः बजने का समय हुआ, दिनेश फिर उधर चल ही दिया। स्नेह से भीगे हुए आग्रह को वह कैसे टालता? बार-बार घूम-फिरकर वही शब्द उसके कानों में गूँजते रहे—शाम को आओगे न?

मुश्किल यह थी कि दिनेश उस समय यदि वहाँ न भी

जाता, तो यहाँ भी वह स्थिर नहीं रह सकता था। न जाकर न जा सकने के क्षोभ को वह कैसे सहन करता!

वह गया।

इस बार उसे रजनी से बातें करने का अवसर भी मिला। उसने उसे शरबत पिलाया और पान लगाकर खिलाये। उसने उलहना भी दिया—मिले भी तो इतने वर्षों के बाद और एकदम से ऐसे समय! न समाचार दिये, न दर्शन!

दिनेश पहले कुछ बोला नहीं, इन सब बातों को अपने अन्त:करण में वह केवल ग्रहण करता गया।

रजनी ने इस ओर लक्ष्य किया। पूछा—चुप क्यों हो? बोलते क्यों नहीं हो? दो दिन के बाद तो मैं चली ही जाऊँगी—फिर क्या जाने कब मिलना हो?

दिनेश तब भी कुछ नहीं बोला। हाँ, उसकी आँखों में आँसू छलछला आये। और रजनी उसकी ओर एक बार ध्यान से देखकर तुरन्त अन्यत्र चली गई। उसने कुछ कहा भी नहीं कि कहाँ जा रही है और कितनी देर में फिर लौट आयेगी। आँसू पोंछकर दिनेश भी उठकर वहाँ से चल दिया। सभी स्त्रियाँ कार्य-व्यस्त थीं। वह केवल छोटी मामी के पास गया और कहने लगा—अब मैं चलता हूँ मामी!

मामी बोली—बैठो न ज़रा देर और! दरवाज़े पर बहुत से मेहमान ठहरे हुए हैं। सब तुझे देखने को कह

रहे थे। अपने मामा के साथ उधर ही ज़रा सा घूम-फिर आ।

"मुझे देखकर वे करेंगे क्या ? कौन मुझे शादी करनी है"—रूक्ष स्वर में दिनेश तपाक से कह गया। एक उसकी मामी ही नहीं, अनेक स्त्रियाँ उसकी ओर एकटक देखती रह गई।

उपर्युक्त बात के साथ ही दिनेश चल खड़ा हुआ, किन्तु द्वार से कुछ दूर आगे बढ़ जाने पर, एक बार घूमकर जो उसने देखा तो देखता क्या है कि रजनी चुपचाप खड़ी हुई उसी की ओर देख रही है।

यह देखकर दिनेश तुरन्त लौट पड़ा और सीधे मामी के पास आकर कहने लगा—सुशील भैया को दो दिन से बड़ा कष्ट है। जलपान के लिए आपने केवल मिठाइयों तथा दालमोठ का प्रबन्ध किया है। और मिठाइयों से उन्हें सख़्त नफ़रत है। उनके लिए कुछ फल भेज दिया करें, तो अच्छा हो।

इसके बाद उसने रजनी की ओर घूमकर देखा। उस समय भी उसकी आँखें रक्त-वर्ण हो रही थीं। तब वह कहने लगा—देखती हो न मामी, रजनी ने रो-रोकर किस तरह आँखें सुजा रक्खी हैं! पगली कहीं की! अरे, यह तो विधि-विधान ठहरा। नारी-जाति भर को सहन ही करना पड़ता है। फिर इस वियोग में जीवन के चरम सौभाग्य का

जो संयोग है, रो-धोकर उसके गौरव को धूमिल करना कम-से-कम मुझे तो अच्छा नहीं लगता।

मामा बोली—अब तुम्हीं इसे समझाओ दिनेश! मैं तो समझा-बुझाकर हार गई।

रजनी की माँ ने आनुषङ्गिक विवेकशीलता का परिचय तो दिया, किन्तु उसके कण्ठ की आर्द्रता किसी प्रकार अस्पष्ट न रह सकी।

इधर-उधर देखता हुआ उत्तरी कमरे की ओर मुड़कर दिनेश बोला—ज़रा पानी पिलाना मामी!

रजनी तुरन्त बढ़कर शरबत बनाने चल दी।

दिनेश तब तक कमरे में टहलता हुआ दीवारों पर लटकती हुई तसवीरें देखता रहा। रजनी शरबत ले आई। इस बार उसके साथ में उसकी भाभी की छोटी बहिन सरिता भी थी।

दिनेश भरे हुए शीशे के गिलास को होठों से लगाकर अतिशय मन्द गति से एक-एक घूँट शरबत पीता और बीच-बीच में रजनी को देखने लगता। रजनी ने इसे लक्ष्य किया। तब उसने छोटी बहिन से कह दिया—जा सरिता, भैया के लिए दो बीड़े पान तो लगाये ला।

सरिता चली गई, तो रजनी बोली—कितनी देर में शरबत पी पाओगे?

"इच्छा होती है, जीवन की अन्तिम साँस तक भी इसे समाप्त न कर पाऊँ।"—दिनेश चट से कह गया।

"निर्मोही कहीं के! तीन वर्ष बीत गये, एक बार भी न भूल पड़े। सुनते-सुनते कान फूट गये—शादी नहीं करेंगे—शादी नहीं करेंगे! ऐसे कठिन व्रत का पालन कैसे करोगे?"

"जिस तरह भी हो सकेगा, उस तरह।"

"यह सब कुछ न होगा। इसी सरिता से तुम्हें शादी करनी होगी। मेरे सिर पर हाथ रखकर शपथ लो कि तुम इसे पूरा करोगे।"

"यह न होगा। मैं तुम्हारी शपथ किसी तरह न ले सकूँगा।"

"तब जीवन की अन्तिम साँस तक इस शरबत को कैसे पी सकोगे?"

दिनेश चुप रह गया। उसने कभी सोचा भी न था कि रजनी इतना आगे बढ़ आई है।

"चुप क्यों हो रहे?"

"मुझे इस जीवन के प्रति किसी प्रकार का मोह नहीं रह गया। मैं कल के लिए भी कुछ कह नहीं सकता।"

"कोरी बनावट है। मेरे लिए जब तुम इतना भी नहीं कर सकते, तब मैं तुमसे और क्या आशा करूँ? व्यर्थ की एक ज़िद तक का त्याग जब तुमसे नहीं हो सकता, तब जीवन का त्याग भला तुम क्या करोगे?"

इसी समय सरिता आ गई। उसके हाथ में पान थे। वह उन्हें रजनी को देने लगी।

रजनी बोली—तू ही क्यों नहीं दे देती!

सरिता शरमा गई। किन्तु अब परिस्थिति दूसरी हो गई थी। पान न देने पर दिनेश के प्रति उसकी लज्जा अब और भी असीम हो उठती। तब वह उसको सम्हालती कैसे! विवश होकर उसने दिनेश को पान दे दिये।

दिनेश निश्चेष्ट बना रहा। बड़ी कठिनाई से वह अपने प्रकृत हास को संयत रख सका।

किन्तु रजनी सरिता की ओर देखकर मुस्कराती हुई बोली—बस अब दिनेश के साथ तेरी सगाई पक्की हो गई।

निमेष-मात्र में सरिता भाग खड़ी हुई।

दिनेश भी तुरन्त चलने लगा।

रजनी बोली—मैं तुमको कुछ-न-कुछ देना ही चाहती थी। क्या मैं आशा करूँ कि तुमने उसे लेना स्वीकार कर लिया?

चलते हुए दिनेश कुछ बोला नहीं। ज़रा-सा मुसकरा भर दिया। किन्तु मनही मन वह कहने लगा—रजनी के पास मेरे देने को और है ही क्या? अन्धकार के सिवा वह और दे ही क्या सकती है? किन्तु दिनेश बेचारा क्या करे? अन्धकार उसे पाकर भाग भले खड़ा हो, किन्तु रजनी-निर्मित ओस-

कणों से युक्त प्रकृति से लेकर उसकी सरिता तक को उसे स्वीकार तो करना ही पड़ेगा।

* * *

दूसरे दिन ढेर के ढेर आम, जामुन, केले, अनार और अंगूर आये हुए देखकर अखिल बोल उठा—यह सब उसी दिनेश की कारस्तानी है। देखो तो, बेचारों को सहारनपुर आदमी भेजकर यह सब मँगाने के लिए विवश होना पड़ा। दिनेश वहाँ से सम्बन्ध न रखता होता, तो तुम्हारी असुविधा का किसी को ख़याल तक न आता। सिद्धान्त तो केवल यह है आगत का स्वागत किया जाय और स्वागत में कोई त्रुटि रहती थी, कौन कह सकता है? किन्तु दिनेश ने उस विशेषाधिकार का प्रयोग किया है, जो स्नेह के बिना कभी सम्भव नहीं हो सकता।

दिनेश चुपचाप बना रहा।

किन्तु मुस्कराता हुआ सुशील बोल उठा—लोचन मामा से कह दो—आज ठंढाई में भाँग बहुत थोड़ा छोड़ें, थोड़ी-सी मैं भी पीलूँगा। बात यह है अखिल कि वास्तव में सिद्धान्त भी निश्चल नहीं होते, विकास के लिए उनमें भी परिवर्तन होना वाञ्छनीय है।

और दिनेश के अन्तराल में ये शब्द गूँजने लगे—"निर्मोही कहीं के! तीन वर्ष बीत गये, एक बार भी न भूल पड़े।"

चोर

(१)

केदार, रञ्जन और गोपीनाथ के साथ ताश खेलता हुआ गप लड़ा रहा था। बीच-बीच में कभी रञ्जन चुटकी ले लेता, कभी गोपीनाथ अपनी जिह्वा की खुजली शांत करता। रात के नौ बज रहे थे, और खेल समाप्त नहीं होने आता था कि सड़क पर एक भीड़-की-भीड़ निकलने की हलचल, अपना विचित्रता-मिश्रित स्वर लेकर, इन लोगों के कानों में कुलबुलाने लगी। गोपीनाथ से न रहा गया। वह कहने लगा—"जान पड़ता है, मियाँ अब्दुलकरीम के यहाँ दावत में आये हुए लोग जा रहे हैं।"

वह झट से उठकर खड़ा हो गया और कमरे से बाहर आकर दोनों को लक्ष्य करके बोला—"अब वहाँ उल्लू बने बैठे क्यों हो ? इधर आओ। देखो। ज़रा देखो तो इन कुत्तों को, साले दावत में चबाई हुई हड्डियों का ही बखान करते जा रहे हैं!"

रञ्जन और केदार भी तुरन्त पास आकर खड़े हो गये।

भीड़ छँट चुकी थी। कुछ थोड़े ही व्यक्ति पीछे रह गये थे। गोपीनाथ बोला—"अबे ए अल्लारक्खू! सुन। तुझसे एक बात कहनी है।"

अल्लारक्खू। एक फटा, लेकिन साफ़, ढीला पायजामा। पैरों में रबर के सफ़ेद जूते। बदन पर परेड के बाज़ार से ख़रीदा (या चोरी से उड़ाया ?) हुआ किसी गोरे चमड़ेवाले का डिस्कार्डेड ऊनी कोट, जो कुछ लूज़ भी होता था। भीतर बदन पर और कोई कपड़ा नहीं। हाँ, सिर पर लाल टर्किश कैप—अपने दल से विलग होकर गोपीनाथ के सामने आकर खड़ा हो गया।

"अब्दुलकरीम के यहाँ दावत खाने गया था ? क्या-क्या उड़ाया ?" गोपीनाथ ने पूछा।

"यह न पूछ यार, यहाँ सड़क पर। हरामज़ादे अभी यहीं तो हैं। वह जा रहे हैं ! सब-के-सब पिये हुए हैं।"

अल्लारक्खू चट से कह गया। उसके मुख पर उल्लास का चरम गर्वित रूप था। वह दो सीढ़ी चढ़कर, ऊपर कमरे के बाहरवाले दलान में उसके निकट आकर, भीतर चलने को तत्पर हो गया।"

गोपीनाथ ज्यों ही भीतर चल दिया, त्यों ही, उसी के पीछे होकर, वह भी कमरे में आकर, फ़र्श पर पड़े गद्दे पर, उन लोगों से ज़रा हटकर, बैठ गया।

केदार उसे इस तरह घूर-घूरकर, नीचे-ऊपर, देखने लगा, जैसे वह कोई अजीब क़िस्म का जानवर हो !

और रञ्जन ?

वह उसे छेड़ने का अवसर खोजने लगा।

गोपीनाथ ने 'पासिंग शो' सिगरेट, केस से निकालकर, एक अपने होठों पर रख ली, दूसरी अल्लारक्खू को दे दी! फिर दियासलाई जलाकर पहले अपनी सिगरेट सुलगाई, फिर उसकी। दो कश लेकर अल्लारक्खू बोला—"यार, तू भी अगर आज मेरे साथ होता, तो बड़ा मज़ा आता!"

सिगरेट पीकर मुस्कराता हुआ गोपीनाथ बोला—"क्यों?"

"वो-वो माल काटे, वो-वो हाथ साफ़ किये, वो-वो तित-लियाँ देखने में आईं कि बहिश्त भी साला शरमा गया!"

अल्लारक्खू ने अतिशय उल्लसित होकर कह दिया। उसके मुँह से प्याज़ की बू आ रही थी। बातें करते समय उसके दाँत-तो-दाँत, मसूढ़े तक झलकने लगे।

रञ्जन ने विस्मय से कह दिया—"सच!" और वह ज़रा हटकर बैठ गया।

"क़ुरान-क़सम; जो झूठ बोले, उसपे तुफ़्!"

"यक़ीन नहीं होता।" कहकर रञ्जन ने एक चोट की।

"तब दो तरीक़े हैं यक़ीन होने के। एक तो यह कि पेट में चाकू भोंककर मैं अभी अपना काम तमाम करके दिखा दूँ, और दूसरा यह कि आप कुछ दिन सोहबत करें। बग़ैर सोहबत कुछ भी हासिल नहीं हो सकता। मगर जिसके दिल होता है, वही सोहबत भी कर सकता है। संग-दिल क्या ख़ाक सोहबत करेगा?" कहते-कहते अल्लारक्खू गंभीर हो गया।

केदार बोला—"तुम अब चुप रहो रज्जन ! कभी-कभी तुम इसी तरह सारा मज़ा किरकिरा कर देते हो।"

गोपीनाथ ने कहा—"यह मेरे एक लायक़ दोस्त हैं। इनकी बात का बुरा मानता है बेवक़ूफ़ !···हाँ, तो कह जा अब सारी दास्तान। बुत क्यों बन गया ?"

"बुत बनने की ही बात है। मैं क़समिया कहता हूँ, मैं बुत-परस्त हूँ। हर एक दिलवर बुत-परस्त है।···बड़ी देर तक तो तैयारियाँ ही होती रहीं। ज़र्दा, पुलाव, कोफ़्ता और रक़म-रक़म की मिठाइयों की रक़ाबियों का जब ढेर लग गया, और लोगों ने खाना शुरू कर दिया; तो ख़ुद-बख़ुद शबनम ही आ गई साक़ी की शकल में। उसे जब मैंने अपनी प्याली में शराब उँडेलते देखा, तो मैं बेहोश हो गया। क़ुरान-क़सम, बिना पिये ही मैं होशोहवास खो बैठा। फिर गाना शुरू हुआ। ज़रीना, क़िस्मत, शैदा, मज़हर, सब-की-सब एक-से-एक बढ़कर परियाँ आईं। मैं कुछ भी खा न सका। ज़री-सा ज़र्दा और पुलाव खाया मैंने, और बुत बन गया। फिर मुशायरा हुआ। हमीं लोगों में से वो-वो शोअरा निकलते गये कि मैं तो हैरत में आ गया! तब मैंने भी एक शेर कहा।"

सिगरेट बुझ गई थी। अल्लारक्खू ने उस आधी बची सिगरेट को फिर होंठों से लगाकर, दियासलाई जलाकर सुलगाना चाहा कि केदार बोला—"भई रज्जन, उस चौराहे-वाली दुकान से आठ बोड़े पान तो ले लेना।"

रञ्जन चला गया।

गोपीनाथ ने कहा—"आज तेरी यह गुफ़्तगू सुनकर तबीअत कितनी ख़ुश हुई, तू अगर जान सकता। मगर..."

अल्लारक्खू—"अगर-मगर मैं नहीं जानता। महज़ इतना जानता हूँ कि तबीअत ख़ुश होना क्या चीज़ है।"

"जवाब भी तेरा नंबरी होता है। अच्छा, यह तो बता कि आज उड़ाया क्या ?" गोपीनाथ ने मुस्कराते हुए पूछा।

"उड़ाने की कुछ न पूछ यार !" अल्लारक्खू बोला—"उड़ाना चाहता, उसकी टोह में रहता, तो कुछ भी मुश्किल न था। मगर हर जगह, हर वक़्त, हर मौक़े पर यह काम मौज़ूँ भी तो नहीं होता। फिर, एक बात मैंने यह भी सोच देखी कि ज़र की चोरी करने में वह लुत्फ़ कहाँ, जो दिल की चोरी में है ? इसके सिवा हुस्न भी तो एक क़िस्म की दौलत ही है।"

"वाह बे ! कौड़ी दूर की लाता है।" गोपीनाथ ने मुँह बनाकर इस तरह कहा कि केदार अपनी हँसी रोक न सका।

"यार, अब तू मेरे साथ कहीं नहीं चलता ! मुझे कभी-कभी बड़ा ख़याल होता है इसका। कुरान-क़सम, जो झूठ कहूँ। वो भी क्या दोस्ती, जो पूरी ज़िंदगी तक न चले !"

अल्लारक्खू इस तरह कह गया कि उसके दुर्बल शरीर और श्याम वर्ण के लंबे मुख पर भी एक विशिष्ट आभा झलक उठी।

रज्जन पान ले आया था। दो-दो बीड़े पान उसने सबको दिये। फिर ख़ुद भी खाकर इत्मीनान के साथ वह भी गोपी के निकट बैठ गया।

पान खाकर सिगरेट के दो-तीन कश लेने के पश्चात् अल्लारक्खू बोला—"अब चलूँगा।"

वह उठ खड़ा हुआ।

गोपी बोला—"अब कब मिलेगा?"

"यार, तू ख़ुद तो मिलता नहीं, मुझी से पूछता है, कब मिलेगा? मेरा क्या ठीक, रोज़ाना भी मिल सकता हूँ, और ऐसा भी मौक़ा आ सकता है कि बरसों मुलाक़ात न हो!"

"मैं इन दिनों ज़रा काम की तलाश में रहता हूँ। बेकार घूमना मुझे अब अच्छा नहीं लगता।" कहते हुए गोपीनाथ कुछ गंभीर हो गया।

अल्लारक्खू गोपीनाथ की बात का कोई उत्तर न देकर उसकी ओर ध्यान से देखने लगा।

बातें करते हुए ये लोग गली से निकलकर सड़क पर आ गये थे। खंभे पर लटकती हुई बिजली की रोशनी में अल्लारक्खू गोपीनाथ को सतर्कता से देख रहा था। वह समझता था, गोपी मेरा दोस्त है, मुझसे प्रेम रखता है; किन्तु उस समय वह स्पष्ट देख रहा था कि उसका वही दिली दोस्त अब उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। लेकिन अल्लारक्खू किसी भी बात को पचाकर नहीं रख

सकता। जो कुछ वह सोचता है, उसे तुरन्त कह डालता है। गोपी को देखते-देखते वह कुछ उत्तेजित हो उठा। बिगड़कर बोला—"तो तुम्हारा ख़याल है कि जो लोग बेकार हैं, आवारा हैं, वे रज़ील हैं, और जो लोग किसी-न-किसी काम के सिल-सिले में दिन-रात चक्की में पिसा करते हैं, वही बड़े शरीफ़ हैं!"

केदार बोला—"यह भी कोई पूछने की बात है?"

गोपा केदार की ओर देखकर रह गया। इसी बात को वह अगर कहता भी, तो इतना स्पष्ट करके कभी न कहता।

"तो साफ़ तौर से तुम यही कहना चाहते हो कि तुम मुझसे नफ़रत करते हो!...अच्छी बात है। अपना-अपना उसूल और एतक़ाद ठहरा। लेकिन इतना जान लो गोपी बाबू कि किसी एक शख़्स की नफ़रत असल में कोई चीज़ नहीं। जिससे ख़ुदा नफ़रत नहीं करता, उससे इंसान नफ़रत किया करे—रात-दिन, चौबीसों घंटे—तो भी वह उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। अगर मैं ऐसा जानता, तो.... ख़ैर, कुछ कहना बेकार है। अब चलता हूँ।...आदाबरज़।"

कहकर अल्लारक्खू एक ओर चल दिया। गोपा ने पुकारा भी—"अरे, सुन तो ज़रा।"

किंतु उसने जब उनकी आवाज़ पर ध्यान नहीं दिया, तब रज्जन, गोपा और केदार फिर अंदर बैठकर ताश खेलने लगे।

(२)

अल्लारक्खू चोर और गिरहकट है। कानपुर शहर के

चौराहों पर जो पुलिस कांस्टेबिल खड़े रहते हैं, सब-के-सब नहीं, तो अधिकांश तो अवश्य उससे परिचित हैं। मिलने पर पान-सिगरेट से उनकी खातिर करने में वह कभी चूकता नहीं। साथियों में, मार-पीट के लिए तैयार हो जाने पर, वह सबसे आगे रहता है। चोज़ उड़ा देने पर सड़क के दस आदमियों में मिलकर बेफ़िक्री के साथ चलने का उसे बहुत अच्छा अभ्यास है। सभा-सोसाइटी के लेक्चरों तथा सिनेमा-हाउसों की भोड़ों में आप अल्लारक्खू को प्रायः अपने निकट देखेंगे। मगर एक शर्त है, और वह यह कि आपके कोट या कुरते के बाहरी जेबों में बड़ा, मनीबेग या फ़ाउंटेन-पेन ज़रूर होना चाहिए। मेले के दिनों में बिसातख़ाने और पुस्तक-विक्रेताओं की दुकानों पर भी अल्लारक्खू को आप कोई-न-कोई चीज़ ख़रीदते हुए देख सकते हैं। मगर शर्त यह कि आपके साथ आपका पूरा परिवार भी रहना चाहिए।

अल्लारक्खू चोरी क्यों करता है, इस विषय पर उसने कभी सोचा नहीं। कभी उसे ऐसे अहम मसले पर ग़ौर करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। माँ-बाप जब उसे पढ़ा न सके, और जब उसे कहीं कोई काम भी नहीं मिला, जब पहले पिता और फिर कुछ दिनों बाद उसकी माता का भी स्वर्गवास हो गया, तो अल्लारक्खू ने पहले पहल अपने जिन दोस्तों की आत्मीयता प्राप्त की, उनमें से ज़्यादातर या तो रईसों के आवारा लड़के थे, या वेश्याओं के भाई-भतीजे। दूसरे को

धोखा देकर अपना मतलब निकालना, सफ़ाई के साथ झूठ बोलना और निगाह बचाकर कोई-न-कोई क़ीमती चीज़ उड़ा देना उन लोगों का काम था। ऐसे लोगों के साथ अल्लारक्खू के सारे शौक़ पूरे होते थे। अच्छा खाना-कपड़ा और हाथ में हर वक़्त पैसा—इससे बढ़कर उसे और चाहिए क्या था? धीरे-धीरे वह अपने फ़न में पूरा उस्ताद हो गया।

एक ज़माना था, जब गोपी भी उसके साथियों में रह चुका था। बरसों दोनों साथ-साथ हँसे-खेले थे, धौल-धप्प और मार-पीट भी उनमें हो चुकी थी। यद्यपि एक अरसे से गोपीनाथ उसके साथ नहीं जाता था, तथापि अल्लारक्खू यह तो कभी सोच ही न सका था कि कोई ऐसा भी समय आ सकता है, जब वह भी उसे घृणा की दृष्टि से देखेगा! झूठ बोलना, दूसरों को धोखा देना और चोरी करना बुरा काम है, अल्लारक्खू यह मानता था। किन्तु वह यह भी मानता था कि इन कामों के सिवा दुनिया में और भी ऐसे काम हैं, जो इसी हद तक बुरे हैं, बल्कि इससे भी ज़्यादा बुरे हैं। और लोग उन बुरे कामों को करते हुए भी दुनिया की नज़रों में भले बने रहते हैं, हालाँ कि दर असल वे मुझ या मेरे-जैसों से भी ज़्यादा नीच और नापाक होते हैं। जब दुनिया में ऐसे लोगों के लिए जगह है, तो मेरे लिए क्यों नहीं हो सकती?

यही सब सोचता हुआ अल्लारक्खू निश्चिन्तता से अपनी ज़िंदगी बसर कर रहा था। शुतुरख़ाने में उसका एक पुराना

खपरैल का मकान था, जिसमें वह अकेला रहता था। वक्त पर वह होटल में जाकर खाना खा लेता और आज़ादी के साथ जहाँ चाहता, वहाँ घूमता।

दिन चल रहे थे, और उनके साथ-साथ अल्लारक्खू का जीवन भी चल रहा था। इतने में आ गई कल की रात और शबनम—फिर गोपी से उसकी बातचीत और उसमें उसकी घृणा। तब एकाएक वह सोते से जग-सा पड़ा। उसे मालूम हुआ कि वह इतना गिर गया है कि उसका गोपी जैसा दोस्त भी उससे कभी मिलने के लिए आ नहीं सकता।

एक ओर तो उसे गोपी की दी हुई घृणा ने आ घेरा, दूसरी ओर वह सोचने लगा, शबनम की बात। उसकी उमर अभी बहुत छोटी थी। वह अभी पूरे अठारह साल का भी नहीं हो पाया था। वह गंदी-से-गंदी सोहबत में रहा था, और दुनिया का कोई भी बुरा फ़ेल उससे बचा न था। वह पतन के पथ पर था, किन्तु वह नहीं जानता था कि संसार का अनुभव ही वह वस्तु है, जो उसे पतन के गहरे गर्त से निकाल सकती है। उसे दोस्त मिले थे, लेकिन वे सब-के-सब लापरवाह और ग़ैरज़िम्मेदार थे। मिलने पर ऐसी चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाले, मानो उस पर प्राण निछावर करने के लिए सदा तत्पर हैं; पर काम पड़ने पर जिनकी छाया भी मिलना मुश्किल हो जाती। एक गोपी ही ऐसा था, जिस पर अल्लारक्खू को पूरा भरोसा था। वह नहीं जानता था कि प्रेम

क्या वस्तु है। कभी उसे अनुभव करने का भी अवसर नहीं मिला था। मित्रता में ही वह प्रेम मानता आया था। किन्तु आज उसे बोध हुआ कि प्रेम मित्रता से सर्वथा भिन्न वस्तु है। गोपी उसका मित्र-मात्र था। प्रेम तो चीज़ ही और है।

इसी क्षण उसके नेत्रों के सामने शबनम आ पहुँची। तब उसे प्रतीत हुआ कि जीवन बहुत बड़ी चीज़ है, और मैंने अभी तो कुछ भी नहीं पाया है। अभी मुझे मिला ही क्या है ? माना कि शबनम वेश्या है। तो इससे क्या हुआ ? माना कि वेश्या ज़हर होती है। तो ? दुनिया में शराब है, और ज़हर भी है। ज़हर ही ज़हर है, और क्या शराब ज़हर नहीं है ?

उठते-उठते अल्लारक्खू को आठ बज गये थे। अब सोचते-सोचते बज गये नौ, तो उसे कुछ भूख मालूम हुई। वह होटल की ओर चल दिया। मकान से निकलकर वह अभी सड़क पर ही आ पाया था कि उसे देख पड़ा, एक पागल आदमी। चिथड़ों से उसने अपना बदन ढक रक्खा था। वह श्याम वर्ण का अच्छा-खासा तगड़ा और लंबा आदमी था। उसके बदन पर मैल जमा हुआ था। सिर के बाल और दाढ़ी ख़ूब बढ़ी हुई थी। नंगे पैरों धीरे-धीरे वह आप-ही-आप बड़बड़ाता हुआ चला जा रहा था। अल्लारक्खू खड़े-खड़े उसे देखने लगा। जब वह कुछ फ़ासले पर हो

गया, तो धीरे से वह भी उसी ओर बढ़ गया। मिठाई की दुकानों के नीचे कहीं-कहीं कुछ दोने पड़े थे। उसने देखा, वह पागल आदमी कभी-कभी कोई दोना उठाकर उसमें से मिठाइयों का चूर तथा चाशनी के बूँद अँगुली से ले-लेकर चाटने लगता। अल्लारक्खू तब और आगे बढ़कर, निकट जाकर उसे देखने लगा। उसने देखा, जब अँगुली से चाटने पर भी उसे संतोष नहीं हुआ, तो उस ख़ाली दोने को ही वह जीभ से चाटने लगा है! अल्लारक्खू उसके बिलकुल पास ही खड़ा था। उसे मालूम हुआ कि संसार के आघातों से पीड़ित, मिट्टी में मिले हुए व्यक्तित्व में भी प्यास है। और भूख? ओह! उसकी तो थाह नहीं है! वह तो मनुष्य-मात्र में है। अमीर और ग़रीब का इसमें भेद क्या? अमीर मिठाइयों से भरे दोने साफ़ करते हैं, तो ग़रीब उन दोनों की गंदगी साफ़ करते हैं! मिठाइयाँ भाती दोनों को हैं। ऐसी बात नहीं कि वे अमीरों को ही पसंद आती हों और ग़रीबों को उनसे नफ़रत हो! अँगुलियाँ दोनों ही चाटना जानते हैं।

इसी क्षण अल्लारक्खू ने सुना, पागल बड़बड़ा रहा है—"साले मिठाइयाँ तो चाटना जानते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि मिठाइयाँ भी उनको चाट सकती हैं। यहाँ बैठकर जो लोग दूकान की चीज़ों को देख-देखकर मिठाइयाँ खाते हैं, क्या वे कोई शरीफ़ आदमी होते हैं? क्या वे

सोच-समझकर चलनेवाले होते हैं ? न आँखें उनके वश में होती हैं, न ज़बान। वे एक नंबर के गुंडे होते हैं, आवारा। उनकी लुगाइयाँ दूसरों से मिठाई खाती फिरती हैं। नहीं तो उनको दुकानों के सामने इस तरह कूड़ा बढ़ाने की क्यों ज़रूरत पड़े ? नहीं तो मुझ-जैसा आदमी क्यों मिठाई खाने की इच्छा करे ? साले चाहते हैं कि ग़रीब लोग अपनी आँखें फोड़ लें, और ज़बान काट डालें। बदमाश कहीं के—मुझ-जैसे त्यागी-तपस्वी लोगों का संयम भंग करने का कारण बनते हैं।"

अल्लारक्खू चोर तो था, लेकिन पिशाच नहीं था। वह धोखेबाज़ था, लेकिन अभी उसने हृदय नहीं खोया था। क़मोज़ की जेब में हाथ डालकर वह पैसे निकालता हुआ बोला—"मिठाई खाओगे ?"

"कौन, तुम मुसलमान ? तुम मुझे मिठाई खिलाना चाहते हो ! और ये सब-के-सब हिन्दू क्या मर गये हैं ? देखो न, कैसे टुकुर-टुकुर देख रहे हैं। किसी ने यह भी पूछा कि कितने दिन से तूने मिठाई नहीं खाई !"

"क्या तुमको मेरी मिठाई खाने से कोई एतराज़ है ?"

'हाँ, है एतराज़। बहुत सख़्त एतराज़ है। क्योंकि तुम मूर्त्ति-पूजा को नहीं मानते ! लेकिन अगर मैं पूछूँ कि मुझे मिठाई खिलाने की बात तुम्हारे दिल में कैसे पैदा हुई, तो तुम क्या जवाब दोगे ?"

अल्लारक्खू कोई उत्तर न दे सका।

पागल ने फिर कहा—"अच्छा, जाने दो इस बात को।...अब बताओ, तुमको क्या कभी किसी की याद आती है?...बट आई मेड ए मिस्टेक हियर। ऐम सारी।...अच्छा, यह बतलाओ, क्या तुमने किसी को प्यार किया है?...तुम मेरे इन सवालों का तुरन्त जवाब क्यों नहीं देते?...ओह! तुम कुछ सोचने लगे। हा-हा-हा-हा!—हा-हा-हा-हा!! पक्के मूर्त्ति-पूजक निकले, पक्के!!!"

अल्लारक्खू का सिर चकरा गया। एकाएक इतनी अधिक बातों को एक साथ सोचने और फ़ौरन उनका उत्तर देने का उसे कभी ऐसा अवसर ही न मिला था, तो भी वह तुरन्त सावधान होकर मिठाई की दुकान के पास जाकर बोला—"यह जितनी मिठाई खा सके, इसे खिला दीजिए। पहले पाव-भर थोड़ी-थोड़ी सब मिलाकर दीजिए।"

दुकानदार ने पाव-भर मिठाई तोल दी। पागल पास आ गया। दुकानदार ने दूर से मिठाई-भरा दोना उसके हाथों पर छोड़ दिया। पागल हर एक चीज़ को ध्यान से देख-देखकर खाता और चलता जाता।

अल्लारक्खू उसके पास जाकर बोला—"लेकिन इतने से पेट नहीं भरेगा। कौन-सी चीज़ और दिलवा दूँ?"

यह कहकर वह पागल की ओर देखने लगा।

पागल खड़ा हुआ दोने से बुन्दी का लड्डू उठाकर ध्यान से

देख रहा था। उसने एक बार अल्लारक्खू की ओर देखकर, दोना उसके आगे फेंकते हुए, कह दिया—"मैं नुक्ती के लड्डू नहीं खाता। तुमने मुझे नुक्ती के लड्डू क्यों दिलवाये? ले जा अपनी मिठाई। मैं ऐसी मिठाई नहीं खाता।...मैंने इस तरह के लड्डू बहुत खाये हैं। लेकिन जानते हो, कहाँ खाये हैं और किसने खिलाये हैं? हा-हा-हा-हा! हा-हा-हा-हा!! मुझे मिठाई खिलाकर बहुत ख़ुश होना चाहता था! अब हो ले ख़ुश!!

दोने में भरी मिठाइयाँ सड़क पर बिखरी पड़ी थीं, और पागल बराबर बड़बड़ा रहा था। अल्लारक्खू ने सोचा—पागल की बातों का सोचना क्या। मैं उसके बीच में पड़ा ही क्यों?

वह होटल की ओर चल दिया।

(३)

गोपीनाथ, शबनम और पागल। अल्लारक्खू के मानस पर तीनों बराबर तैर रहे हैं। आज वह अब तक अपने शिकार की टोह में कहीं गया नहीं। कहीं जाने की उसकी तबीअत ही नहीं हुई। वह घर पर पड़ा रहा। थोड़ी देर सोया भी। लेकिन ज़्यादातर सोचता ही रहा, लेटे-लेटे। उसके मा-बाप बने रहते, तो वह कितना सुखी होता! माना, उसे नौकरी नहीं मिली थी, किसी काम में वह लग नहीं सका था, तो भी खाने-भर को तो उसके अब्बा पैदा ही कर

लेते थे। अभी क्या उनकी मरने की उमर थी। वह न सही, मा ही बनी रहती। प्यार से खाना तो खिलाती थी। ज़ुकाम भी हो जाता, तो पास बैठकर सिर तो दाबती थी।

और पागल ने पूछा था—"तुमको किसी की याद आती है?"

उसकी आँखें भर आईं। वह रोने लगा।

अंधी दुनिया क्या जानेगी कि चोर और बदमाश आदमी भी रोते हैं, उनके भी हृदय होता है, उनकी भी कुछ आवश्य-कताएँ होती हैं!

रो लेने से अल्लारक्खू को एक अजीब तरह की शांति मिली।···ओह! कितने दिनों से वह नहीं रोया था।··· फिर उठकर, हाथ-मुँह धोकर वह चल दिया और सीधा मूल-गंज में आकर खड़ा हो गया।

मूलगंज का सायंकाल। मोटरों, ताँगों और इक्कों के आने-जाने का मिश्रित स्वर। चमचमाती हुई कार का म्यूज़िकल हार्न।···बचना भैये।···हटना राजा बाबू।...आक्खा! तिवारी जी हैं, नमस्कार भाई साहब!···अबे निकालता है पैसे कि रसीद करूँ एक चाँटा!....एक चश्मा बेच डालें।···बाबू जी, चप्पल चाहिए।···हटना भा-आई!···आदाबरज़ दारोग़ा जी। कहिए, किसकी ओर निशाना लग रहा है?

एक ओर हलवाई की दूकान पर बैठकर अल्लारक्खू ने कुछ जल-पान किया। फिर पान खाकर वह सड़क पर खड़ा

हो गया। उसे याद आया, घड़ीवाले से उसे तीन रुपये लेने हैं। वह मेस्टनरोड की ओर मुड़ गया। चलते हुए उसे गोपीनाथ का व्यवहार याद आया। जब मैंने कहा, मिलते नहीं हो, तो उसने जवाब दिया—मैं इन दिनों ज़रा काम की तलाश में हूँ। बेकार घूमना मुझे अच्छा नहीं लगता।... इसमें कौन-सी बेजा बात उसने कही, जिस पर मैं उबल पड़ा? जो लोग ईमानदारी के साथ मेहनत-मज़दूरी करके आराम से ज़िंदगी बसर करते हैं, क्या वे मुझसे हज़ार दरजे अच्छे नहीं हैं?...बेकार मैं उससे उलझ पड़ा।

वह अब घड़ीवाले की दुकान के सामने जा पहुँचा था। बोला—"आदाबरज़।"

घड़ीवाले ने तीन रुपये उसी समय निकालकर उसके हाथ पर रख दिये।

'शुक्रिया' कहकर अल्लारक्खू फिर सड़क की ओर लौट पड़ा। अब उसे शबनम की याद आ गई। 'वह यहीं कहीं रहती है। किसी से पूछा जाय, तो कैसा हो।' सोचता हुआ वह चलता गया। इतने में उसकी नज़र एक ताँगे पर जा पड़ी। वह एक गली के छोर पर खड़ा हो गया। उसने देखा, वही है वही। ताँगे से उतरकर, गली में आकर वह एक ज़ीने पर चढ़ गई। उसके पीछे एक औरत और भी थी। तब तक अल्लारक्खू ने तमोली से दो बीड़े पान बनाने को कह दिया। ताँगा चल दिया था।

अल्लारक्खू भी पान खाकर गली में आ गया। एक बार उसने कुछ सोचा, वह कुछ ठहरा, इधर-उधर उसने कुछ देखा, फिर बात-की-बात में ज़ीने से चढ़कर ऊपर आ गया।

"आदाबरज़!" शबनम बोली।

अल्लारक्खू खड़ा हुआ उसे ताकता ही रहा।

"तशरीफ़ रखिए।" शबनम ने कहा।

अल्लारक्खू बढ़कर गद्दे पर बैठ गया। कभी वह अपने को देखता, कभी शबनम को।

शबनम बोली—"कुछ फ़रमाइए।"

"कल······जी के यहाँ आपको देखा था। नाम सुना था, मगर देखने का कभी नियाज़ हासिल नहीं हुआ था।"

शबनम ने सिगरेट-केस दियासलाई की डिब्बी के साथ उसके सामने पेश कर दिया।

दो कश लेकर अल्लारक्खू बोला—"तुमने यह पेशा क्यों इख़्तियार किया?"

शबनम मुस्कराई। बोली—"आप लोगों के लिए।"

अल्लारक्खू गंभीर हो गया। बोला—"तो तुमको यह पेशा छोड़ना पड़ेगा।"

"क्या आप इसी लिए यहाँ तशरीफ़ लाये हैं?"

"आया तो इसलिए नहीं था, लेकिन आने पर ऐसा इरादा बना लिया है।"

"लेकिन यह इरादा नया नहीं जान पड़ता।"

"ग़लती कर रही हो। अभी तुम मुझे पहचानती नहीं हो। एक तुम्हीं नहीं, मुझे दरअसल कोई नहीं पहचान सका। यहाँ तक कि मैं ख़ुद भी अपने आपको बहुत कम पहचानता था।"

"आप करते क्या हैं?"

"मैं चोरी करता हूँ।"

"सच बतलाइए।"

"क़ुरान-क़सम, मैं झूठ नहीं बोल रहा।"

"आपने यह पेशा क्यों इख़्तियार किया?"

"आप लोगों के लिए।"

अल्लारक्खू चट से कह तो गया, पर उसे अपने इस उत्तर पर ख़ुद ही हँसी आ गई।

"आपको यह पेशा छोड़ना पड़ेगा।"

"क्या आप इसीलिए यहाँ तशरीफ़ रखती हैं?"

"कैसे कहूँ।" कहकर शबनम विचार में पड़ गई। चली थी वह उसको अपने उत्तर से मात देने, लेकिन उससे मात वह ख़ुद खा बैठी।

शबनम नर्तकी है, साथ ही गायिका भी। इसी लिए वह सड़क पर नहीं रहती, न छज्जे पर बैठती है। वह तो अपने परिश्रम का अवलंब रखती है। तो भी वह क्या जानती नहीं कि उसका पेशा ख़तरे से ख़ाली नहीं। लाख वह बच-बचकर

चलती है, तो भी काजल की कोठरी की संगति रखकर वह बेदाग़ कैसे रह सकती है। यौवन और सौंदर्य, दोनों ही मादक वस्तुएँ हैं। माना कि उसका अवलंब कला है, किन्तु मादकता के साथ जब कला का संपर्क हो जाता है, तब तो वह रस-पिपासु व्यक्तियों के लिए और भी अधिक प्राणपीड़क हो जाती है। अल्लारक्खू कहे, तो कह सकता है कि अपनी जीवनगत पिपासा शांत करने के लिए वह चोरी-जैसा घृणित कर्म करता है। किन्तु कोई नर्तकी या गायिका इस बात का दावा कैसे कर सकती है कि वह ऐसे लोगों को पतन से बचाने के लिए ही इस रास्ते से चल रही है। वह समझ रही थी, प्रेमी के दिये हुए उत्तर ही यदि उसके प्रश्नों के उत्तर बन सकें, तो यह मेरी तत्काल बुद्धि के लिए कितने गौरव की बात होगी। किन्तु उसे पता हो न था कि वह तो काँटेदार फ़ेंसिंग को पार कर रही है, ऐसी दशा में उलझे बिना उसकी गति कहाँ है!

इसी क्षण अल्लारक्खू ने पूछा—"तुम्हारे साथ और कौन-कौन रहता है?"

"मेरी माँ हैं, और एक नौकरानी। लेकिन आप का यह सब पूछने से मतलब क्या है?" शबनम ने चरम गर्वित जिज्ञासा से पूछा।

"अभी तक मैं दुनिया की नज़रों में एक बदमाश, एक नीच आदमी की शक्ल में रहा हूँ शबनम। लेकिन कल

से लगातार कुछ ऐसी बातें हुई हैं कि मुझे अपने इस पेशे से नफ़रत हो गई है। मैं भी एक शरीफ़ आदमी की तरह ज़िंदगी बसर करना चाहता हूँ। लेकिन ऐसा तभी मुमकिन हो सकता है, जब तुम मेरा साथ देने के लिए तैयार हो जाओ। मैंने सोचा, एक तुम्हारा ही दामन ऐसा है, जहाँ मुझे पनाह मिल सकती है। मुझे यक़ीन है, दुनिया की तरह तुम मुझसे नफ़रत नहीं रख सकतीं।"

शबनम ने जब से अपना होश सँभाला है, उसे ऐसे लोगों से ही काम पड़ा है, जो सदा उसे धोखे में रखते आये हैं। हमेशा सब्ज़ बाग़ दिखाना उनका काम रहा है। कृत्रिम गौरव और ऐश्वर्य की ही झाँकियाँ उसे देखने को मिलती रही हैं। माना कि उसे पैसे की कमी नहीं रही, लेकिन क्या वह जानती नहीं, जो पैसा उसने पाया है, वह उसे अपने आप नहीं मिला है। वह तो उसने अपने माया-जाल से ज़बरदस्ती उनकी जेबों से निकलवा लिया है, जो रूप के बाज़ार में, अपनी कामाग्नि शांत करने के लिए, अपना सब कुछ लुटाने की इच्छा लेकर ही आते हैं। जो कोई भी उसके यहाँ आया, नवाबज़ादे से कम उसने अपना रोब नहीं दिखलाया। उधर शबनम सदा, अपने प्रत्येक प्रेमी से, यही आशा करती रही है कि संभव है, इसे पा जाने पर मुझे सदा के लिए निश्चिंत हो जाने का सुअवसर हाथ लग जाय। किंतु सदा हो, कुछ दूर आगे चल लेने पर, उसे अंत में निराश होना पड़ा है।

इसी लिए प्रत्येक व्यक्ति की बातों पर अविश्वास करने का उसने अभ्यास कर रक्खा है। किन्तु आज यह बात क्या है, जो एक ख़ुशनुमा नौजवान अपना कच्चा चिट्ठा इस तरह उसके आगे रख रहा है, जैसे वही उसका एकमात्र आत्मीय हो। किन्तु वह कितना भोला है, जो यह भी नहीं जानता कि किस तरह की बात मुझसे कहने की होती है, किस तरह की नहीं। वह प्रस्ताव कैसा विचित्र कर रहा है। जो आदमी ख़ुद किसी रोज़ी-रोज़गार से नहीं है, वह हौसला कितना ऊँचा ज़ाहिर करता है। इसे हो क्या गया है! यह पागल तो नहीं है?

तब वह बोली—"आप मुझे अजीब क़िस्म के आदमी मालूम पड़ते हैं। आप ख़ुद तो अपने रोज़ी-रोज़गार से आसूदा हैं नहीं, हर वक़्त जेल की हवा खाने की दहशत में आपका वक़्त कटता है और उम्मीद करते हैं आप आसमान का चाँद पाने की! आप पागल तो नहीं हो गये हैं? अगर आप घर के ख़ुशहाल होते, और तब इस तरह की बात करते, तो उस पर कुछ ग़ौर भी किया जा सकता। ताज्जुब है कि आपको ख़ुद इस तरह की बात करते हुए कुछ भी शरम नहीं मालूम हुई!"

विष का घूँट आदमी घुटक लेता है, लेकिन विषाक्त बातें जब उसके कान के परदों पर टकराती हैं, तब उसकी मान-वात्मा कैसी तिलमिला उठती है, इसे भुक्तभोगी ही अनुभव

कर सकते हैं। अल्लारक्खू ने अपने जीवन में इस तरह की बातें कभी सुनी नहीं थीं। कोई दूसरा आदमी यदि कभी उससे इस तरह की बातें करता, तो वह उसे कभी क्षमा न करता। वह क्या करता, यह तो उस समय की परिस्थिति ही बतलाती, लेकिन वह ऐसे मौक़े पर बिना मार-पीट किये किसी तरह न मानता। लेकिन आज यहाँ वह विवश हो गया। जब तक शबनम अपनी बात समाप्त करे-करे, तब तक वह सोचता ही रहा कि बात कड़ुई ज़रूर है, लेकिन अगर उसमें सचाई है, तो उसे सहना ही होगा।

लो, शबनम अपनी बात कह भी चुकी, तो भी अल्लारक्खू सोचता ही रहा। उसे अपनी असलियत का पता चल गया था। अब वह जान पाया था कि दरअसल वह है कहाँ। वह सोचने लगा था कि सचमुच उस-जैसे आदमी के लिए इस तरह की चेष्टा एक तरह का पागलपन नहीं, तो और क्या है।

तब उसने मसनद पर रक्खी हुई अपनी टर्किश कैप उठाकर सिर पर रक्खी और जेब में पड़े हुए तीन रुपये शबनम के आगे फेंककर कह दिया—"यह आपको तकलीफ़ देने की फ़ीस है!"

अब उसने शबनम की ओर देखा तक नहीं। उलटे पैरों वह झट से ज़ीने से उतरकर नीचे गली में आ गया। वह चल तो रहा था अपने मकान की ओर, लेकिन उसके भीतर हाहाकार मचा हुआ था। बार-बार वह यही

सोच रहा था कि क्या सचमुच दौलत मुहब्बत को ख़रीद सकती है।

कई दिनों तक अल्लारक्खू बेचैन रहा। किसी काम में उसकी तबीअत ही न लगती थी। चारों तरफ़ उसे नफ़रत-ही-नफ़रत नज़र आ रही थी। वह लेट रहता, तो उठने को जी न चाहता, और बैठ जाता, तो बैठा ही रहता। उसका खपरैल का अकेला मकान हर तरफ़ से पुकार-पुकारकर उससे कहता—"तू चोर है, बदमाश। तेरी वक़त क्या है! नाबदान के कीड़ों से भी ज़्यादा तू नापाक है!" वह सड़क पर निकलता और अगर उसके वे पुराने दोस्त मिल जाते, जिन्होंने उसे बरबाद करने का सबक़ सिखाया था, तो उसकी इच्छा होती कि वह उनके पास जाकर उनकी नाक काट ले और कह दे कि मुझे इस क़दर ज़लील बनाने की यही एक सौग़ात है। पर कुछ सोचकर वह चुपचाप अपने रास्ते से चला जाता और उनकी ओर दुबारा देखने की इच्छा भी न करता।

एक बार अल्लारक्खू ने यह भी सोचा कि वह अपना मकान बेच दे और उससे जो रुपया हाथ आये, उसे किसी दूकानदारी में लगा दे। किन्तु फ़ौरन ही उसे ख़याल आ गया कि जो लोग कहेंगे—चोरी का माल इकट्ठा कर-करके यह दूकान खोली गई है, उनका मुँह मैं किस तरह बंद करूँगा। उस हालत में हमेशा 'चोरी-चोरी-चोरी!' का ख़याल ही मेरा दिमाग़ ख़राब कर डालने का बायस होगा!

तब उसने सोचा कि इस ख़याल से छुटकारा पाने का एक—सिर्फ़ एक ही—उपाय है। और वह यह कि इस शहर को ही छोड़ दूँ। दूसरे शहर में न उसकी पहचान के लोग मिलेंगे, न उसे पिछले गुनाहों का ख़याल सतायेगा। सब लोग उसे इज़्ज़त की नज़र से देखेंगे। इस तरह डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल गया। नवीन उत्साह और उल्लास से अल्लारक्खू में नवजीवन का संचार हो उठा। किसी तरह किराये का इंतिज़ाम करके वह बंबई चला आया।

शबनम एक सफल वेश्या थी, और इसी लिए हुस्न के दीवाने उसके यहाँ अकसर आते ही रहते थे। लेकिन जो लोग शरीफ़ कहलाते हैं और ज़ाहिरा तौर पर अज़-हद अमीरत दिखलाते हैं, उनमें भी अब तक इस दरजे का कोई आशिक़ उसके यहाँ नहीं आया था। अल्लारक्खू जब उसकी बात के जवाब में कुछ न कहकर तीन रुपये बात-की-बात में, फेंककर चल खड़ा हुआ, तो उसने यह महसूस किया कि जिस आदमी को उसने अभी पागल और बेशरम बनाया था, वह अपनी ज़िंदादिली से उसके गाल पर एक अच्छा ख़ासा तमाचा जड़ गया है। इस प्रकार जब अल्लारक्खू इतनी जल्दी वहाँ से भाग खड़ा हुआ और शबनम के दिल पर ऐसी गहरी चोट कर गया तो वह छटपटाती रह गई। वह जवाब देती कैसे और देती क्या!

(४)

कई वर्ष बीत गये।

कला-फ़िल्म्स लिमिटेड की ओर से 'जीवन का सौदा'-फ़िल्म की शूटिंग बंबई के प्रदर्शन-स्टूडियो में अत्यधिक तत्परता के साथ चल रही थी। साउंड-रिकार्डिस्ट और कैमरामैन सर्वाधिक सतर्कता से अपना काम कर रहे थे।

'चोर! चोर!! चोर घुसा है—चोर!!!'

शब्दों में ज़ोर से चिल्लाकर मालती अत्यंत दयनीय स्थिति में धीरे से बोली—"हाय, अब मैं क्या करूँ! मैं इस समय घर में अकेली हूँ।"

वह बँगले से बाहर आकर नौकरों को पुकारने लगी—"अरे दीनू, दौड़ तो सही, चोर घुसा है, चोर! महराज! ए महराज! दौड़ के देख तो सही चोर घुस आया है, चोर!"

लेकिन कोई भी तुरन्त आता हुआ उसे देख न पड़ा। तुरन्त उसमें नये साहस का संचार हुआ। जीवन-भर की संचित पूँजी की रक्षा, वर्तमान के लिए न सही, तो भविष्य के लिए तो उसे करनी ही चाहिए। वह फ़ौरन एक कमरे में जाकर रिवाल्वर उठा लाई। फिर निडर होकर उसी कमरे में जा पहुँचो, जहाँ चोर घुसा था। रिवाल्वर उसकी ओर तान-कर वह बोली—"बस, अगर अपनी ज़िंदगी और बाल-बच्चों

की ख़ैर चाहते हो, तो चुपचाप सारी चीज़ें बदस्तूर, बाक़ायदे, उसी तरह रख दो, और भाग जाओ।"

चोर इतमीनान के साथ बैठा तिजोरी खोल रहा था। गृहिणी की बात सुनकर उठ खड़ा हुआ। उसकी भृकुटियाँ तन गईं। आँखें निकालकर, अतिशय अपरूप भंगिमा में, उसने तपाक से कहा—"ज़िन्दगी और बाल-बच्चों की ख़ैर! चोरों की भी कोई ज़िन्दगी होती है! क्या वे भी बाल-बच्चों का सुख जानते हैं, जिनका एक पैर हमेशा जेल में रहता है। वे सिर्फ़ दौलत चाहते हैं दौलत, क्योंकि दौलत ही तो ज़िन्दगी है। दुनिया के सारे अमीरउमरा दौलत से ही ज़िन्दगी की ख़रीद-फ़रोख़्त करते हैं। और अगर चोर ऐसा चाहता है, तो वह गुनहगार है!"

बात-की-बात में मालती की चेष्टा बदल गई। रिवाल्वर उसके हाथ से छूट पड़ा। वह उसके निकट जाकर कहने लगी—"सच बतलाइए, आप कौन हैं? मुझे विश्वास नहीं होता कि आप चोर हो सकते हैं! क्या आपको कोई सदमा पहुँचा है? क्या आपको किसी ने चोट पहुँचाई है? सच बतलाइए, आप किस नीयत से यहाँ आये हैं?"

"और आप कौन हैं, जो एक चोर से इस क़दर हमदर्दी ज़ाहिर करने चली हैं? आप अपने फ़र्ज़ की अदायगी क्यों नहीं करतीं? आप मुझे शूट क्यों नहीं कर देतीं? क्या आपको भी मेरी ज़िन्दगी पर रहम आ गया है? लेकिन

आपको यह मालूम होना चाहिए कि मैं ख़ूनी हूँ। भीतर आने के लिए, मना करने पर, आपके एक नौकर का ख़ून करके आया हूँ। मैं अपनी गृहस्थी बसाना चाहता था, मैं भी आजकल के शरीफ़ आदमियों की तरह ज़िन्दगी बसर करना चाहता था, और इसी लिए मैं दौलत चाहता था। मगर अब तो मैंने ख़ून किया है। अब तो मुझे मौत के घाट उतरना है। अब तो मैं आपके हाथों से मरना चाहता हूँ। क्योंकि आप-जैसी ख़ुशकिस्मत स्त्री के द्वारा मारे जाने में भी मैं अपनी ज़िन्दगी की एक ठंडी छाया देखता हूँ।"

उसका कैसा सौभाग्यशाली जीवन है, वकील साहब ने उसके हृदय में कैसा उन्निद्र प्रवेश पाया है, मालती सोचती रह जाती है। क्या वह जानता नहीं कि वकील साहब कहाँ गये हुए हैं? उसका हृदय भीतर-ही-भीतर चिता की भाँति धू-धू कर जल उठता है।

तब वह चोर के और अधिक निकट आ गई, और बोली—"मैं जानती हूँ कि तुम चोर नहीं हो, क्योंकि तुम जीवन चाहते हो—एक सद्गृहस्थ का-सा पवित्र जीवन। उधर मैं भी ऐसे ही आदर्श सुखमय जीवन की प्यासी हूँ। यह सारी दौलत इस वक्त तुम्हारी है, और...।"

अपलक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखते हुए दोनों आत्मविस्मृत हो उठते हैं।

* * *

"ओह मिस शबनम! आपने सारा खेल चौपट कर दिया। स्टोरी के ख़िलाफ़ डॉयलाग गढ़कर मनमानी स्पीच देने का आपको कोई हक़ न था। और मास्टर शरीफ़, आप तो सोलह आना अहमक़ साबित हुए।"

कला-फ़िल्म्स लिमिटेड के मैनेजिंग डाइरेक्टर मिस्टर विजयकुमार ने क्रोधित होकर कह दिया। कैमरामैन तथा साउंड-रिकार्डिस्ट महाशय भी यंत्र-गति अवरुद्ध करके परस्पर इसी सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे।

प्रतिदान

सुरेशचन्द्र सरोजिनी को अभी तक समझ नहीं सका है। जीवन के साहचर्य में पत्नी का मिलन एक चेतनामय युग की उन्मद सृष्टि है, अब तक वह यही समझता आया है। किन्तु इस सरोजिनी को पाकर उसकी जिस विचारधारा को और अधिक घनीभूत होना था, वह ऐसी विकीर्ण क्यों हो रही है, उसकी चिन्ता का यह एक निगूढ़ विषय बन गया है।

सुरेश ने कल्पना की थी, सरोजिनी को प्राप्त करके वह जगत् के इस कलुषमय नारकीय जीवन से उठकर एक ऐसे संसार की रचना करेगा, जिसमें विश्व का अखिल वैभव उसके पल-प्रति-पल के संकेतों की प्रतीक्षा करे, मानवात्मा के चरम विकास का जो एकमात्र निकेतन हो और जीवन का कोई भी अभाव जहाँ मनुष्य के विवेक को किसी प्रकार पराभूत न कर सके। किन्तु आज तो सुरेश कुछ और ही देख रहा है। उसका स्वप्न कभी मूर्तित भी होगा, जान पड़ता है, इसी में वह संशयालु हो गया है।

उसके मित्र उसका उपहास करते हैं। कहते हैं—अब काहे को तुम्हें अवकाश मिलेगा कि इधर इस रोड पर, जहाँ प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी का ऑफ़िस है, तुम कभी भूलकर भी टहलने आ सको!····कहते हैं—अरे, अगर उनको अपने साथ लेते

ही आओगे, तो हम उनका कुछ छीन न लेंगे। बल्कि इस ऑफ़िस का गौरव ही बढ़ जायगा।...हाँ, यह ज़रूर है कि यह आज़ादों की दुनिया है और उनकी आज़ादी...। अब आगे नहीं कहूँगा। तुम मुझे मन-ही-मन कोस रहे होगे!... और कहते हैं—अरे कम्बख़्त! अकेले-ही-अकेले! अच्छी दोस्ती निबाही! किसी दिन दावत भी कर देता, तो इस दिल की तमन्ना तो पूरी हो जाती।

और सुरेश इन सब बातों को चुपचाप सुन लेता है, कभी कुछ कहता नहीं। कोई क्या जान सकेगा कि वह हृदय का कैसा आदमी है! कोई कैसे समझेगा कि मित्रों के इन उपालम्भों में सुरेश की आत्मा किस सीमा तक व्याकुल हो उठती है। किसी को क्या पता है कि सुरेश अपने कर्ण-रन्ध्रों के कण्ठ से इस गरल-सिंचित वाक्यावली को कैसे पान कर लेता है। कैसी उमंग के साथ सुरेश ने इस नारी का आवाहन किया था। उसकी कल्पना का वह चित्र कैसा शोभाशाली, कैसा आत्म-परायण और कैसा महान् था, कोई क्या जान सकेगा।

आज सुरेश उखड़ा-उखड़ा-सा रहता है! किसी को छेड़ता नहीं, किसी को उकसाता नहीं। कभी किसी से कोई प्रस्ताव नहीं करता। ऐसा जान पड़ता है, वह एकदम से अकेला ही है, जगत् के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं है। और अगर उसके लिए कोई जगत् है भी, तो वह उसी में समाविष्ट है। उसका

कोई मित्र जब उससे व्यंग्य में पूर्वलिखित बातों की भाँति कुछ कहने लगता है, तो उसकी आत्मा स्वप्नाविष्ट की भाँति विवश-विपन्न हो उठती है। जैसे वह सचेतन होना चाहती है; पर हो नहीं सकती, कुछ करना चाहती है; पर कर नहीं सकती। निदान, उसका निर्वाक् मुख भीतर के उद्वेलन से अप्रतिभ हो उठता है। पलक मारते हुए उसकी दृष्टि बदल जाती है। उसकी प्रकृत-दीप्ति एकाएक तिरोहित हो उठती है। ऐसा जान पड़ने लगता है, जैसे बड़ी प्रयत्नशीलता से उसने अपने-आपको सँभाल रक्खा है।

उसी क्षण सुरेश सोचने लगता है—ये सब समझते होंगे, सुरेश बड़ा सुखी है!

और तब उसके शुष्क हो रहे आनन पर एक प्रक्षिप्त हास मुखरित हो उठता है।

और सरोजिनी?

सरोजिनी उस प्रकार की नारी है, जो कुछ प्रच्छन्न रखना जानती ही नहीं। जैसी कुछ वह अपने अन्तस्तल में है, वैसी ही ऊपर से भी स्पष्टतया लक्षित है। वह कोई बात अपने भीतर तहकर नहीं रखती। जो कुछ उसके मन में आता है, उसे कह ही डालती है। वह अपने चारों ओर से, पूर्णरूप से, स्फूर्तिमय है। जिस कार्य में वह हाथ डालती है, उसे आनन-फ़ानन कर डालती है। उसने अपने

में चिड़ियों का-सा फुदकना पाया है। और अपनी इस उपलब्धि में वह सन्तुष्ट है।

किन्तु जब से वह अपने इस नवीन घर में आई है, तब से उसका संसार बदल गया है। वह नहीं जानती थी कि प्रतीक्षा में किस प्रकार की उलझन होती है! वह नहीं समझ सकी थी कि किसी काम को दूसरे की अभिरुचि के अनुसार करते रहने में, क्षण-क्षण पर, संशय के रूप में, अपने प्रति जो अविश्वास, जो उद्वेग, उद्दीप्त हो उठता है, वह कितना क्षिप्तकारक होता है। उसे क्या पता था कि उसके सामने कोई ऐसा भी अवसर आयेगा, जब वह अपने-आपको ऐसी निरवलम्ब, ऐसी अनाश्रित देखेगी। किन्तु आज उसने समझ पाया है कि जहाँ उसके जीवन की गति कहीं दृष्टि में हो नहीं आती, उड़ने के लिए जहाँ निरभ्र अम्बर उसे अप्राप्य-सा, अकल्पित-सा प्रतीत हो रहा है, विधि-लिपि की भाँति अटल, चिर-स्थिर, वहीं उसका अपना निलय है!

सरोजिनी ने स्वामी के लिए पहले से एक धारणा बना ली थी। वह सोचती थी—जगत् में मातृत्व, पितृत्व, भ्रातृत्व और आत्मीयत्व के रूप में जो कुछ भी उसने अनुभव में धारण किया है, स्वामी में वह सभी कुछ पुञ्जीभूत होता है। इसके अतिरिक्त, इससे भी बढ़कर, स्वामी में और भी कुछ होता है। वह उसका नारी के प्रति और नारी का

उसके प्रति, एक उत्सर्ग का, एक समर्पण का, या यों कहा जाय कि एक सलोने प्यार का भाव होता है। और ऐसा भी नहीं है कि नारी की उत्सर्गभावना का अस्तित्व कहीं अलग निवास करता हो। स्वामी में ही वह भी निहित होता है।

इस प्रकार अपना उसके प्रति और उसका नारी के प्रति, जो एक तन्द्रिल, एक उन्मन, त्याग-भाव है, स्वामी में ही वह मूर्तित रहा करता है। अतएव उसने अपने स्वामी की एक अलौकिक, एक अनोखी, प्रतिमा अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित कर रक्खी थी; किन्तु आज वह अपने इस स्वामी में इस स्वरूप का, इस प्रकार का, कहीं कुछ नहीं पा रही है। आज उसे प्रतीत हुआ है कि स्वामी तो विश्वस्रष्टा की एक कल्पना, उसका एक प्रयोग, या यों समझ लें कि उसका एक Experiment है। वह समझ रही है कि स्वामी तो एक ऐसा देवता है, जिसकी केवल अर्चना ही की जाती है, वह केवल साधना की ही वस्तु है। यह ऐसी आराधना है कि इसमें कुछ आकांक्षा रखना अनधिकार चेष्टा है। इस पूजा में कुछ पाया नहीं जाता। इसमें दिया ही दिया जाता है, लिया नहीं जाता। किन्तु सरोजिनी जो ऐसा समझ बैठी है, उसका आधार क्या है, यह भी समझ लेने की बात है।

सुरेश एक विचारशील या यों कह लीजिए कि एक चिन्तक व्यक्ति है। उसकी अपनी कुछ आकांक्षाएँ हैं। उसने अपने मन में अपनी उन कामनाओं के अनुसार कोई आयो-

जना निर्धारित कर रक्खी थी। पत्नी से वह उस आयोजना की पूर्ति की आशा करता था; किन्तु उसके आते ही उसने देखा कि जो कुछ उसने सोच रक्खा था, वह तो उसका स्वप्न था—एक ऐसा स्वप्न जो तन्द्रिल-मानस में ही कल्पना-तरंग बन-बनकर उत्थित-विनष्ट होता रहता है।

यद्यपि सुरेश अपने घर में पूर्णरूप से निर्बन्ध नहीं है। उसके माता-पिता हैं, उसकी अनुजा है। और इन सबके ऊपर उसकी अतिशय स्नेहशीला दादी है। फिर भी ऐसा नहीं है कि अपने गृह में ही वह सर्वथा परवश किंवा अनधिकारी हो। उसका अपना पृथक् आवास है। उसकी इच्छा के बिना कोई उसमें झाँक नहीं सकता। उसने सरोजिनी के लिए भी एक पृथक् कमरा दे रक्खा है। उसमें वह पढ़ सकती है, आराम कर सकती है, सो सकती है और शृंगार कर सकती है। हवादार कमरे हैं, खिड़कियाँ हैं, रोशनदान हैं। परदे लगाकर उसका विभाजन ऐसे चातुर्य्य से कर दिया गया है कि सबका अस्तित्व पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्बित होता है।

सरोजिनी सोचती है—जहाँ मिलने-जुलने और विचार-विनिमय करने की ऐसी सुविधा हो, वहाँ भी वह एकान्तता, शून्यता और शुष्कता का अनुभव करे। इससे बढ़कर अवहेलना उसकी और क्या हो सकता है।

और सुरेश की उलझन है—जब मैं यहाँ आता हूँ, तब वह या तो करुणा के साथ बातें करती मिलती है, या किसी काम में निरत। किन्तु ऐसा भी तो समय निकल सकता है, जब न तो उसे कुछ काम हो, न किसी से वार्त्तालाप करते रहने का कोई अनिवार्य बन्धन। फिर भी वह छिपी-छिपी-सी फिरती है, जैसे गिलहरी हो। किन्तु वह तो गिलहरी भी नहीं है। गिलहरी को तो कभी-कभी फल कुतरते हुए देख भी पाता हूँ। यह तो उससे भी बढ़ गई है।

तब सरोजिनी क्या तितली है ?

लेकिन तितली भी वह नहीं हो सकती। क्योंकि तितली को उड़ते हुए तो देख पाता हूँ। पर इसकी तो छाया भी नहीं देख पड़ती !

अच्छा, तो सरोजिनी न गिलहरी है, न तितली। तो वह है क्या ? क्या वह निरी कल्पना है ? पर कल्पना तो अमूर्त स्थिति है, और सरोजिनी तो साक्षात् मूर्तित है। तो आखिर यह सरोजिनी है क्या ? कौन जाने क्या है ? कम-से-कम सुरेश तो नहीं समझ सका है कि सरोजिनी क्या है ?

कभी-कभी सरोजिनी के मन में आता है कि वह सुरेश का कमरा खुला पा सके, और तब पा सके, जब वे उसमें न हों, तो वह उसमें चुपचाप चली जाय। फिर वहीं कहीं किसी कोने में, किसी आलमारी के पीछे, या पलंग की लटकती चद्दर की आट में, अपने-आपको छिपा ले। वे आयें

और चुपचाप आकर पुस्तक निकालकर पढ़ने लगें। वे पढ़ते रहें—पढ़ते रहें, और जब इतना पढ़ जायँ कि उनका ध्यान, उनका मन, उनकी चेतना का सर्वस्व लेखक की विचारधारा के साथ-साथ प्रवाहित हो उठे, तब वह धीरे से, खूब सँभल कर, बोल दे—म्याऊँ !

तब वे उठें और दुत्कार कर कह दें—चल, भाग यहाँ से।

और मैं अपने स्थान से ज़रा भी न टसकूँ, एकदम शब्दहीन, श्वासहीन, बनी रहूँ—निस्पन्द, अस्तित्वहीन।

वे फिर अपने अध्ययन में लग जायँ और बिना देखेभाले समझ लें कि बिल्ली भाग गई। फिर जब दो-चार पन्ने आगे बढ़ जायँ, अपने-आपको उसी में लीन कर लें, तब फिर धीरे-से, कण्ठ में ही अपने को केन्द्रित कर बोल उठूँ—म्याऊँ !!

अब वे उठ बैठें और बेंत लेकर बिल्ली को भगाने के लिए जैसे ही इधर देखें, उधर देखें, और कहीं भी उसे न पायें और पूछने लगें कि कहाँ गई री ! निकल तो झट से। चाहे अपने मन में कह लें और चाहे प्रकट रूप में भी कह उठें।

तब ठीक उसी समय मैं निकल पड़ूँ और खिलखिलाकर हँस दूँ।

किन्तु सरोजिनी यह सब किसके लिए करे ? क्या उसके लिए, जो उसकी प्रतीक्षा नहीं करता, जो उससे बोलता नहीं,

जो सदा गुम-सुम रहता है, जिसका कभी मर्म नहीं मिलता और जो कभी स्पष्ट रूप से झलक में भी नहीं आता? माना कि वे अत्यधिक पढ़े-लिखे हैं और यह भी वह स्वीकार करती है कि उनकी विद्या-बुद्धि अथाह है। तो भी पुरुष का हृदय भी तो कुछ होता है और नारी की साध भी तो कोई वस्तु है। वे अत्यधिक गम्भीर प्रकृति के हैं, तो मैं भी अत्यधिक स्वाभिमानिनी नारी हूँ। यह यूरोप नहीं है, और न यह अमेरिका है, जहाँ छोकरियाँ पुरुषों का संयत रहना असम्भव कर देती हैं। यह भारत है, यहाँ की नारी वह भारती है, जिसने निर्बन्धलिप्सा को सदा के लिए पद-तल में दाब रखना अपनी प्रकृति का एक अनिवार्य लक्षण बना रक्खा है।

एक दिन जब सुरेश सबेरे घूमकर लौटा, तो उसे मालूम हुआ, निखिल आया है। निखिल सरोजिनी का अनुज है।

सुरेश को समक्ष देखते ही निखिल ने उसकी चरणधूलि अपने ललाट पर लगा ली। सुरेश ने निर्विकार भाव से आशीर्वाद दिया। कहा—सुखी रहो। उसके होठों तक आया कि वह पूछे—कहो, सब लोग सकुशल तो हैं? तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है? किन्तु यह न कहकर उसने कहा—जान पड़ता है, अभी-अभी चले आ रहे हो।

निखिल ने उत्तर में कहा—हाँ, इलाहाबाद से आने की यही तो सुभीते की ट्रेन ही है। लेकिन इस बार सोते

हुए आ सकने का वैसा सुभीता नहीं मिला। इतनी भीड़ थी कि बैठने को जगह मुश्किल से मिली थी। लेटने को कहाँ जगह थी। कुम्भ-स्नान करके लोग लौट रहे हैं। आप तो उसी दिन भीड़ देखकर चकित हो रहे थे; पर उसके बाद तो भीड़ इतनी बढ़ गई कि स्टेशन-मास्टर को दो दिनों के लिए स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध करना पड़ा। उसके बाद एक सप्ताह हो गया है, फिर भी गाड़ियाँ भरी हुई ही आ रही हैं।

सुरेश को जब दस बातें कहनी होती हैं, तब वह दो बातें बड़ी मुश्किल से कह पाता है। और यह एक निखिल है, जो एक बात कहने के लिए दस बातें कह लेने पर भी तृप्त नहीं होता!

सुरेश ने निखिल की बातें कुछ सुनीं और कुछ नहीं भी सुनीं। कुछ को उसने अपने स्मरण के कोष में रक्खा, कुछ को नहीं भी रक्खा, तो भी निखिल अपनी बात कहता ही रहा। वह अभी ऊपर की बात कह ही पाया था, उसने इसके आगे की बात अभी निर्द्धारित कर ही पाई थी कि सुरेश भीतर चला गया। किन्तु निखिल जब अभी अपनी पूरी बात कह नहीं सका है, तब सुरेश भीतर चला कैसे जायगा! निखिल को यह सहन नहीं है। जान पड़ा, इसी लिए उसने उस समय भी, जब कि सुरेश भीतर जाने लगा, इतना कह ही दिया—और सुनिए जीजा जी, एक बात और भी हुई…।

सुरेश जब भीतर पहुँचा, तो उसकी छोटी बहन करुणा ने कह दिया—दद्दा, निखिल भाई भाभी को लिवाने आये हैं।

सुरेश करुणा की इस बात को सुनकर चुप ही रहना चाहता था। किन्तु वह जानता है कि एक करुणा की बातें हो ऐसी वह मान सका है, जिनका उसने सदा उत्तर दिया है। इस घर में और चाहे जिस किसी की बात सुनी-अनसुनी हो जाय, कोई बात नहीं है। किन्तु यह करुणा तो सिर पर खेलने लगेगी—एक बात अनसुनी करोगे, तो दस। सुना बैठेगी। अतएव सुरेश को बोलना पड़ा—अच्छा तो है। ऐसा तो होता ही आया है।

सुरेश अभी इस बात को पूरा ही कर पाया था कि उसी क्षण निखिल आ गया। बोला—क्या बात है जीजा जी? मैंने नहीं सुन पाई।

करुणा उत्फुल्ल होकर कहने लगी—यों बात कुछ भी नहीं है; पर ऐसी भी है कि बहुत बड़ी भी हो सकती है!

उद्दीप्त उत्सुकता को अपने निरत कण्ठ में भरकर जैसे ही निखिल बोला—वह क्या है जीजी, ज़रा मुझे भी बताओ, वैसे ही करुणा ने कह दिया—एक सुनी हुई बात है।

निखिल बीच में ही अधीर होकर कहने लगा—हाँ, तो बतलाओ न? इतनी बड़ी भूमिका की क्या ज़रूरत है?

"सुना है, भाभी ने कहीं किसी से कहा है कि उसे निखिल के साथ जाने में न जाने कैसा लगेगा।" करुणा ने इस बात

को बीच-बीच से तोड़-मरोड़कर ऐसी मुद्रा में कहा कि एक साथ ही उस घर के सभी प्राणी हँस पड़े।

दादी बोलीं—यह करुणा बड़ी हँसोड़ हो रही है!

अम्मा ने कहा—दुत् पगली! ऐसा भी कोई कहता है!

और सरोजिनी बोल उठी—अच्छा रानी! कह लो खूब। अपनी मुराद पूरी कर लो। लेकिन यह न समझना कि मुझे भी कहने का अवसर कभी नहीं आयेगा।

इस पर निखिल बोला—यह सुनी हुई बात तो नहीं है दिदिया। यह तो तुम्हारे मन की जान पड़ती है।

सुरेश के भी गम्भीर आनन पर हास्य की रेखायें अङ्कित हो आईं।

अब सरोजिनी करुणा की चिकोटी लेकर कहने लगी—अब बताओ, भैया ने तुमको कैसी मात दी!

करुणा हँसती-हँसती बोली—बात यह है भाभी, कि जोड़ी मिल गई! तुम्हारी शह पाकर निखिल भाई उत्साहित हो उठे।

* * *

सरोजिनी स्वामी के घर, विवाह की विदाई में, पहली बार आई है। इसलिए इस ससुराल में अभी वह केवल पन्द्रह दिन रह पाई है। यद्यपि वय में, मन और जीवन में, वह ऐसी अल्प नहीं है कि ससुराल उसे सर्वथा अरुचिकर ही प्रतीत हुई हो। क्योंकि और नहीं है, तो सास, ननँद और

ददिया-सास का सरल, विमल स्नेह तो वह पा ही सकी है। फिर भी प्रचलन ऐसा ही है, प्रणाली यही है कि विवाह की विदाई में, लाड़िली लड़की के लिए, ससुराल के पन्द्रह दिन बहुत हैं। इसलिए निश्चित है कि सरोजिनी आज अपने पिता के घर को इसी निखिल भैया के साथ सायंकाल की ट्रेन से चल देगी।

दोपहर को सरोजिनी करुणा के साथ ही भोजन करने बैठी थी। करुणा ने लक्ष्य किया—सरोजिनी ने थोड़ी-सी खीर खाई, ज़रा-सा दाल-चावल, एक फुलकी और बस। उसकी थाली और कटोरियों में आधा से अधिक खाद्य पड़ा हुआ है।

करुणा से रहा नहीं गया। उसने कहा—मेरी भी रुख़सत कभी हुई थी, मैं भी कभी ससुराल से घर आई थी। पर इस प्रकार अधखाये न उठ सकी थी। वाह भाभी, ऐसा भी कहीं होता है! कुछ आज नई अनोखी मेरे साथ खाने नहीं बैठो हो। नित्य ही तो मैं तुम्हें अपने साथ खिलाती रही हूँ! तब मेरे सामने ही ऐसी प्रवंचना करोगी और मैं देखती रहूँगी! न, ऐसा नहीं कर पाओगी। तुम्हें मेरी क़सम है, जो भूखी उठो।

पर सरोजिनी कैसे बताये कि उससे आज पूरा भोजन क्यों नहीं किया जाता! क्या वह जानती नहीं है कि वह जो आज इस घर से चली जायगी, वह केवल प्रचलन भर है;

क्योंकि अभी वह थोड़ी-सी माता-पिता की भी है। पर वास्तव में उसका जो प्राण है, चाहे उसके प्रति अब तक उसने विराग-ही-विराग क्यों न रक्खा हो, तो भी है तो वह उसका स्वामी ही और उसी स्वामी को छोड़कर वह जा रही है! इसके सिवा वह उस दशा में जा रही है, जब उसने स्वामी को थोड़ा-सा देख पाया था—थोड़ा-सा वह उसे समझ पाई थी।

करुणा ने क़सम खिला दी है और करुणा की क़सम वह टाल भी नहीं सकती। इसलिए उससे और भी जो कुछ खाते बन सका, उसने थोड़ा-सा खाया। इसके सिवा उसने करुणा की बात का उत्तर भी दिया—क्या करूँ जीजी, आज और अधिक खाया ही नहीं जाता! यही जी में आता है कि कैसे झट से घर पहुँचूँ।

किन्तु इस बदले हुए कण्ठ का अर्थ करुणा से अपरिचित नहीं रह सका।

करुणा ने आजी से भी कहा—अजिया, मेरी तो इच्छा भाभी को अभी भेजने की नहीं है। अभी उसने अपने इस घर को अच्छी तरह पहचान भी नहीं पाया है। इसके सिवा यह भी कोई ज़रूरी बात नहीं है कि भाभी की बिदा कर ही दी जाय। एक बार मेरे यहाँ से भी तो भैया को लौटा दिया गया था।

आजी ने उत्तर दिया—सो तो ठीक कहती हो बिट्टी। पर

तुम्हीं सोच देखो, ऐसा ही होता आया है। यही अच्छा रहता है। फिर वह भले घर की बेटी है। एक आशा से उसकी अम्मा ने, उसके बप्पा ने, उसे बुला भेजा है। निखिल बहन को साथ न ले जायगा, तो उन्हें कैसा बुरा लगेगा! मेरा सुरेश जब तुझे लेने गया था और पहली बार तू नहीं आई थी, तो मैं और बहू कितनी रोई थीं, इसकी कथा तुझे क्या मालूम? यह तो मैं ही जानती हूँ।

इस प्रकार उसी दिन सायंकाल की ट्रेन से सरोजिनी निखिल के साथ अपने पिता के घर चली गई।

* * *

ऊपर जिन दिनों परिस्थितियों और तज्जन्य बातों का उल्लेख हो चुका है, वे सब अब सुदूर अतीत के गह्वर गर्त्त में जा पड़ी हैं। सुरेश अब इस संसार में नहीं है। स्वदेश के लिए वह अपना जीवन उत्सर्ग कर चुका है।

सरोजिनी के लिए अब सुरेश एक दुःस्वप्न हो गया है।

लोग कहते हैं—सुरेश उसका स्वामी था। सरोजिनी भी समझने को समझ लेती है कि सुरेश था, उसका स्वामी। किन्तु कौन जानता है कि नारी के लिए स्वामी जो कुछ होता है, सुरेश भी सरोजिनी का वैसा ही कुछ बन सका था या नहीं।

परन्तु निश्चित रूप से सरोजिनी भी यह नहीं कह सकती कि स्वामी से उसने कुछ नहीं पाया था। क्योंकि सुरेश के काग़ज़-पत्रों में उसे एक छोटी स्लिप मिली है। उसमें लिखा है—'न सरोजिनी गिलहरी है, न सरोजिनी तितली है! सरोजिनी अकल्पित है!'

रम्भा

(१)

महासागर में जैसे निरंतर लहरें आती-जाती रहती हैं और तटवर्ती धरिणी उस तरंगमाला से निरंतर आलोड़ित रहती है, वैसे ही, आज न जाने क्या बात है कि मेरे मन में विभिन्न विचारों की तरंगें आ जा रही हैं। बहुत दिनों से निश्चय कर रक्खा था कि एक दिन रम्भा के यहाँ जाऊँगा। पर न तो कभी इतना अवकाश ही मिला और न ऐसा साहस ही हुआ कि वहाँ जाता। लखनऊ जाते हुए सोचा, कानपुर उतरकर ज़रा इस बार रम्भा से मिलता ही चलूँ। कई बार मन-ही-मन सोचा, विचारा और स्थिर किया कि ऐसी ज़रूरत ही क्या है। एक तो झंझटों से यों ही फ़ुर्सत नहीं मिलती, फिर ऐसी जगह पहुँचकर जल्दी लौटना भी कठिन होगा। परंतु किसी भी तरह जी नहीं माना और फलतः मुझसे यहाँ आये बिना नहीं रहा गया।

यहाँ आये हुए, आज मुझे, दस दिन हो गये हैं। रोज़ाना चलने का निश्चय करता हूँ, परन्तु जा नहीं पाता। एक दिन तो रम्भा की तबीअत ही ख़राब हो गई। मैं जब चलने को हुआ, तो तुरन्त ही उसे मूर्च्छा आ गई। एक दिन उसने

मेरी घड़ी ही आध घंटा स्लो कर दी और मैं स्टेशन पहुँचकर लौट आया। कई दिन तो लगातार उसने ज़बरदस्ती रोक रक्खा। इसी तरह इतने दिन हो गये और मैं यहाँ से जा न सका। आया था केवल कुछ घंटों के लिए—केवल रम्भा से मिलकर हालचाल जानने के लिए। परंतु लग गये कितने दिन ! बस, अब आज सायंकाल की एक्सप्रेस से जाना निश्चित है।

रम्भा इसका असली नाम नहीं। यह तो जौहरी जी ने, अपनी तबीअत से, इसका प्यार का नाम रक्खा है। असली नाम तो इसका चंपा है। सो यह चंपा केवल नाम ही से चंपा नहीं है, अपने निर्मल मन और अनंगलता-सी यौवन-श्री के कारण यह वास्तव में चंपा ही है। पूर्णिमा की चंद्रिका जैसे अगाध जलधारा पर खिलखिलाकर विहँसती रहती है, यह चंपकवर्णा भी उसी प्रकार सदा हँसी-मसखरी में ही लीन रहती है। गोपाल घोषाल किस प्रकार गंगाघाट पर खड़ा होकर गोपाल-सहस्रनाम का जाप करता है, किस प्रकार सिर हिलाहिलाकर, आँखें मूँदकर, एक विचित्र प्रकार की ऊँट-भाषा में बड़बड़ाया करता है, किस प्रकार दमड़ी पंडा दबे हुए गले को तिकुनियाँ-सा बनाकर अपनी शेखी बघारता है और उस समय उसकी मुख-मुद्रा कैसी विचित्र, उसका स्वर कैसा अट्टहासोत्तेजक हो जाता है—इन सब बातों का वर्णन चंपा ऐसे सुंदर ढंग से करती है कि हँसते-हँसते दर्शक के पेट में बल पड़ जाते हैं।

परंतु ऐसी हँसमुख होती हुई भी चंपा स्वस्थ नहीं रहती। जब देखो तब कोई-न-कोई व्याधि उसे घेरे ही रहती है। वह प्रायः अपने पिता के यहाँ ही रहती है। जब कभी जौहरी जी आकर लिवा ले जाते हैं, तो दस-बीस दिन या अधिक-से-अधिक मास-दो-मास उनके साथ रहकर फिर लौट आती है।

जिस दिन मैं यहाँ आया था, रात के साढ़े ग्यारह बजे होंगे। सरदी के दिन ठहरे; प्रायः लोग नौ बजे ही शय्या ग्रहण कर लेते हैं। 'भगवान' नाम का दरबान फाटक के भीतर, खिड़की के पास, सो रहा था। मैंने बाहर की सिंकड़ी खट-खटाकर कहा—अरे कोई है? खोलना तो।

उसने पूछा—कौन? सरकार हैं क्या?

मैंने कहा—सरकार नहीं, मैं हूँ बिहारी। इलाहाबाद से आया हूँ। तू भगवान नहीं है क्या? भगवान होता, तो मेरी आवाज़ ज़रूर पहचान जाता।

वह बोला—हूँ तो हुज़ूर भगवान ही; पर आप ज़रा देर से आये। मैं सो गया था, सो हड़बड़ाकर उठ बैठा। इसी मारे उसनींदे में बोल नहीं पहचान सका। हुज़ूर, क़सूर माफ़ करें।

भगवान ने फाटक की खिड़की खोल दी थी और मैं भीतर आ चुका था। झट से वह बाहर निकलकर मेरा असबाब ताँगे से लाने चला गया था। फाटक के भीतर से मैंने चंपा के मकान के ऊपरी भाग पर दृष्टि डाली। चतुर्दिक् नीरवता

छाई हुई थी। तिमंज़िले का बिजली का प्रकाश छज्जे की जाली से झाँकता हुआ फाटकवाले बाहरी चौक में जगमगा रहा था। भगवान ने जब मेरा बिस्तर भीतर रख लिया और खिड़की फिर बंद कर दी, तो मैंने पूछा—मालकिन तो अच्छी तरह से हैं ?

वह बोला—वैसी ही अच्छी तरह से हैं जैसी सदा से रहती आई हैं।

मैंने पूछा—और जौहरी जी कब से नहीं आये ?

उसने कहा—आजकल यहीं हैं। ऊपर सो रहे हैं। दो-एक दिन में जानेवाले हैं।......अच्छा, यह तो बतलाइए, नीचे के कमरे में आपके लिए पलँग बिछा दूँ, या ऊपर दुमंज़िले पर ही सोइएगा। इस समय ऊपर जाने में दिक़्क़त यह है कि मालकिन को जगाना पड़ेगा।

मैंने कहा—मैं नीचे ही सो जाऊँगा, किसी को भी जगाने की ज़रूरत नहीं है।

(२)

इस मकान में मैं पहली बार नहीं आया हूँ। इसके पहले भी अनेक बार आ चुका हूँ। और, जौहरी जी से मेरा परिचय न हो, यह बात भी नहीं है। परन्तु चाहे जो कारण हो, मुझे रात-भर नींद नहीं आई। बार-बार यही सोचता रहा—क्या ही अच्छा होता, यदि आज यहाँ न ठहरकर लखनऊ ही चला गया होता।

रात के तीन बजे तक मैं करवटें बदलता रहा। अपनी भूल पर बार-बार एक पश्चात्ताप-सा मेरे मन में हुंकार करने लगता था। एक बार तो यह भी जी में आया कि यदि अब भी सवेरे की ट्रेन से लखनऊ चला जाऊँ तो अच्छा हो। परन्तु फिर अपनी यह भावुकता स्वत: असंगत-सी प्रतीत होने लगी। सोचने लगा—सबेरा होगा और जब भगवान अपनी मालकिन से कहेगा कि बिहारी बाबू आये थे, रात-भर यहीं नीचे के कमरे में ठहरे थे, पर ज़रूरी काम से सवेरे ही लखनऊ चले गये—तो चम्पा क्या कहेगी। कहेगी—तो फिर यहाँ आये ही काहे को थे, जो बिना मिले चले गये। और, जब जौहरीजी यह बात सुनेंगे तो अपने मन में क्या कहेंगे। यदि सनक में आकर मैं सचमुच चला हो जाता, तो कितना अनर्थ हो जाता।

परन्तु सच पूछो तो यह सब सोचना भी एक प्रकार से भ्रमात्मक ही है। क्योंकि मैं चुपचाप भाग भी तो न सकता। भगवान कहता—बाबू जी, मालकिन को सूचना दे दूँ, तब चाहे चले जाइएगा; इस तरह तो मैं आपको न जाने दूँगा। एक तो यही संभव न था कि मैं भगवान की बात सुनी-अनसुनी कर जाता। दूसरे यदि मैं ऐसा करता भी, तो स्टेशन तक मेरी खबर ली जाती और तब विवश होकर मुझे वहाँ पहुँच जाने पर भी लौटना ही पड़ता।

अंत में मैं यह भी सोचने लगा कि इतना सब हो जाने

के बाद जब मैं चम्पा के सामने होता, तो मेरी क्या दशा होती ! मैं कैसा विवश-विपन्न हो जाता ! जौहरीजी भी आकर कहने लगते—अरे, तुमको हो क्या गया ! दिमाग़ में गरमी तो नहीं चढ़ गई ! पागल तो नहीं हो गये ! आप ज़रा सोचें तो सही, अपने मन के एक संकल्प से मैंने क्या-क्या कल्पनाएँ कर डालीं । हाय रे मनुष्य, तेरा मन !

अपने इस कमरे की कड़ियाँ देख रहा हूँ । देखता हूँ कि इन्हें इन दीवालों पर एक रूप में, एक ही करवट से, लेटे-लेटे कितने वर्ष बीत गये । इनमें गति नहीं है, जीवन नहीं है; तो भी कैसी स्थिरता है, कितना संतोष है ! कोई कामना नहीं है, कोई उलहना नहीं है, तृष्णा का स्पर्श तक इनमें नहीं हुआ । किन्तु यदि सृष्टि की परिवर्तनशील प्रगति अपनी दृष्टि ज़रा-सी घुमा दे, जीवन का प्राणतत्त्व इनमें नाम-मात्र को भी सजग हो उठे और तब ये और कुछ न करके एक बार करवट ही बदल लें, तो कैसा अनर्थ हो जाय !

तो जगत् के इस समस्त अनर्थ के मूल में क्या यह जीवन ही है ? क्या जीवन ही के लिए मनुष्य इस छलना-प्रवञ्चना, छीना-झपटी और इस नारकीय कल्मष की हाट लगाये बैठा है ? क्या सचमुच जीवन इतनी महँगी वस्तु है, जिसके लिए मनुष्य अपने-आपको गंदे नाले का कीड़ा बना ले ? रात-दिन दौड़-धूप, यह कर—वह कर, यह

ठीक नहीं है वह ठीक है, यह दुष्ट है इसका नाश हो, यह पाजी है इसको मारो, इसने रुपया नहीं दिया, यह बेईमान है, इसके मुँह में...कर दो,'''यह चिड़िया अच्छी हाथ लगी, उड़ाओ इसको,'''आज मेरा नाती बीमार है, हाय रे! आज तो वह चल बसा,'''बड़ा अच्छा यह रसगुल्ला है, दो ठो और देना; पेट में दर्द हो रहा है, पीड़ा के मारे जान निकल रही है;'''वह देखो उस दिन विवाह करके हल्दी से रँगे हाथोंवाली एक अवगुंठिता वधू ले आया था, आज चल बसी—।

यदि जीवन का यही स्वरूप है और इसी जीवन के लिए मनुष्य दुनिया भर के पाखंड रचता है, इसी के लिए वह झूठे जाल रच-रचकर विधाता की आँखों में धूल झोंकने का गर्व करता है—तो इस जीवन से तो इन काष्ठ-खंडों का अजीवन ही भला! ऊपर भारी शिलाओं से दबी हैं, नीचे से साँस लेने में भी अक्षम हैं। और फिर भी आपकी शोभा, रक्षा, विश्राम और सुख-शांति की कामना रखती हैं। इनके इस जीवन की हमारे जीवन की अपेक्षा कितनी अधिक सार्थकता है!

यही सोचते-सोचते मुझे गंभीर निद्रा का एक झोंका लग गया। सबेरा हुआ तो देखता हूँ कि मैं जिस कमरे में सोया हुआ था, उसका एक दरवाज़ा खुला हुआ है और स्लेट रंग का एक गरम शाल ओढ़े हुए एक रमणी मेरे निकट खड़ी हुई

मुझे इकटक देख रही है। एक ही दृष्टिनिक्षेप में शरीर-भर में जैसे बिजली-सी दौड़ गई। चकित—विस्मित-सा होकर मैं झट से उठ बैठा।

(३)

उसके उन्मद नयनारविंद से उल्लास फूटा-सा पड़ता है। उसकी दंत-मुक्ताओं से आनंद मुखरित-सा हो उठा है। उसके तांबूल-राग-रञ्जित अधर ऐसे सजग-पुलकित हो उठे हैं, जैसे नवल विकसित किशलय हों। पास ही कुर्सी पड़ी हुई थी। उसे अपने पास खसकाकर वह वहीं बैठती हुई बोली—रात में आये और वैसे ही सो रहे, सूचना भी न दी! न खाया न पिया!

"मैंने ऐसा ही उचित समझा। सोचा, तुम उस समय गंभीर निद्रा में लीन होओगी। उतनी रात को जगाना और फिर देर तक बातचीत करना तुम्हारे लिए कितना कष्ट-कर होता।"

मेरे इन शब्दों को सुनकर वह मुसकराती हुई बोली—देखती हूँ, अभी तुम्हारे मन में संकोच ही बना हुआ है। आखिर तुमने मुझे दूसरा समझकर ही तो ऐसा किया! कोई मुझे आत्मीय मानता होता, तो बिना मिले और दो बातें किये उसका जी कैसे मानता!

"यह बात नहीं है भाभी"—मैंने कहा—"तुम्हारी तबीअत यों ही ठीक नहीं रहती। रात को तुम्हें नींद भी नहीं

आती। ऐसी अस्वस्थ दशा में, यह सोचकर कि शायद आज तुम सो ही रही हो, तुम्हें जगाने का मुझे साहस नहीं हुआ। आत्मीय स्वजन को असमय कष्ट देने ही में यदि अधिक आत्मीयता मानी जाती हो, तब तो मैं ज़रूर अपराधी हूँ।"

तब वह बोली—देखती हूँ, तर्क में डालकर चाहे तुम्हें निरुत्तर किया भी जा सके, पर विनयशीलता के आगे ऐसा करना सर्वथा दुष्कर है।...अच्छा, और कुछ बतलाओ, दिदिया आजकल कहाँ है ?

"अपने घर—बनारस में।"

"और, राजीव बाबू ?"

"इलाहाबाद में।"

"घर पर सब लोग अच्छी तरह हैं ?"

"ख़ूब अच्छी तरह।"

"नारायण को अपने साथ नहीं लाये। उस बार कहा था न, याद है ?"

घर से सीधा नहीं आ रहा हूँ। आगरे गया हुआ था और अब लखनऊ जाना है। इसी लिए मैंने सोचा—चलो, तुमसे मिलता चलूँ।

"लखनऊ कब जाना है ?"

"आज ही, शाम की गाड़ी से।"

"और, जो आज न जा सको तो ?"—कहते हुए उसके

कानों में पड़े हुए इयर-रिङ्ग डोलने लगे, उसके दाड़िम-दशन झाँकने लगे।

"नहीं, आज ही जाना चाहता हूँ। ज़रूरी काम है।"

"क्या काम है ऐसा ज़रूरी, ज़रा मैं भी तो सुनूँ ?"

"आज नहीं, फिर कभी बतलाऊँगा......जौहरी जी का क्या हाल है ? उनकी तबीअत अब कैसी रहती है ?"

"तबीअत तो वैसी ही रहती है, लेकिन...।"

"लेकिन क्या ?—।"

"अभी नहीं बतलाऊँगी, फिर कभी देखा जायगा।"

"यह अच्छा जवाब दिया तुमने !—और इतना जल्दी !" वह हँसने लगी। राम-राम से उसका कलहास से प्रस्फुटित हो उठा।

"जौहरीजी क्या कर रहे हैं इस समय ?"—मैंने पूछा। उसी तरह हँसते हुए उसने कहा—"इस समय तो संध्या-वंदन में लीन हैं !"

मैं आश्चर्य-सरिता में डूबने-उतराने लगा।

यह जौहरीजी कभी दिन-रात राग-रंग में डूबे रहते थे। रात को मदिरा इतनी पी लेते थे कि दिन के दो बजे तक शय्यागृह से बाहर झाँकते तक न थे। उन्हीं जौहरीजी में यह विराट् परिवर्तन कैसा !

मैंने साश्चर्य कहा—यह मैं क्या सुन रहा हूँ !

उसने गम्भीर होकर उत्तर दिया—आप बिलकुल ठीक सुन रहे हैं।

(४)

आज मुझे यहाँ आये तीसरा दिन है। सबेरे ज्यों ही उठा, चम्पा से मिलने की आतुरता मेरे हृत्पिंड में बैठकर डोलने लगी। ऊपर के कमरे में पहुँचने पर एकाएक जौहरी जी सामने पड़ गये। बड़े आदर से उन्होंने मुझे अपने निकट बैठाला। उनके हृदय का सरल मृदुल स्नेह पाकर मैं उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सका। अत्यंत गम्भीर होकर वे बोले—संसार की गति और विधाता का यह विधान तो देखो बिहारी बाबू, कि तुम और हम सब अकस्मात् कैसे मिल गये।

मैं कुछ बोल न सका, उनके मुँह की ओर देखता रहा। वह कहते गये—सरिता की जलधारा की भाँति तुम्हारी आत्मीयता का तरल स्पर्श हमारे लिए कितना प्राणप्रद, कितना अमृतमय हो उठा है—यह मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ। ये सब बातें बतलाने की होती भी तो नहीं हैं। ये तो हिलोर की भाँति मानवात्मा में उठ-उठकर ही एकबारगी मूर्तिमान् होती और फिर क्षण-भर के पश्चात् अपने-आपमें समा जाती हैं!

मैंने कहा—इस बार आपमें ऐसा विराट् परिवर्तन पाकर मैं तो विस्मयाकुल हो उठा।

वे हँसते हुए कहने लगे—हाँ, परिवर्तन हुआ है।

मैंने कहा—मैं तो आपके जीवन में ऐसी विचित्रता कभी सोच भी न सकता था।—कभी ऐसे परिवर्तन की कल्पना भी नहीं कर सकता था!

वे बोले—मैं कुछ करता-कराता नहीं हूँ। वे अन्तर्यामी ही जो चाहते हैं, मुझसे करा लेते हैं। निरभ्र अम्बर में जैसे विहगवृंद स्वच्छंद उड़ा करते हैं वैसे ही अपने जीवन के शून्य में मैं भी जिधर चाहता हूँ, उड़ता हूँ।

उस समय मैंने जौहरीजी के मुख पर एक प्रकार का मौन हास्य-सा झलकता हुआ देखा।

अब उन्होंने कहा—मैं तो अब स्नान-पूजन के लिए जाता हूँ। आप अंदर चले जाइए। उसका भी जी बहल जायगा। कल रात से उसे ज्वर हो आया है। अच्छा, पहले मैं ही जाकर उसे सूचित किये देता हूँ।

जौहरीजी चले गये। क्षण-भर के बाद नौकरानी ने आकर कहा—बेटी जी आपको बुला रही हैं। चलिए।

दूसरे कमरे में चम्पा के पास जाकर मैं एक कुरसी पर बैठ गया। चम्पा बोली—कल बड़ी रात तक उनसे बातें होती रहीं। दो बजे के लगभग उन्हें तो नींद आ गई, पर मुझे ज्वर हो आया। सोचा था—सो लेने पर तबीअत

साफ़ हो जायगी, लेकिन वह तब से कुछ बढ़ हो गया है।

मैंने कहा—विधाता के विधान में आदि से लेकर अंत तक मुझे तो त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ देख पड़ती हैं। यही देखो, ज्वर आना चाहिए था मुझको, पर आ गया तुमको !

वह चकित विस्मत मुद्रा से मेरे मुँह की ओर देखने लगी।

मैंने कहा—कल तुमने आदर कर-करके इतना अधिक खिला दिया कि मैं सोचने लगा था कि अब मेरी ख़ैरियत नहीं है। पेट ख़राब हुआ नहीं कि ज्वर आया नहीं। परन्तु बात उल्टी ही हुई। ज्वर भी औंधा खोपड़ी का जीव निकला ! मेरे पास न आकर वह तुम्हारे पास पहुँच गया !

वह बोली—जाओ, तुम्हारे मुँह से कभी अच्छी बात निकलती ही नहीं। तुम्हारे पास तो क्या, (तुम्हारे) दुश्मनों के पास भी, भगवान् करे, यह व्याधि न पहुँचे।

मैंने कहा—अब बतलाओ, इनके जीवन में यह परिवर्तन कैसे हुआ !

वह बोली—एक दिन की बात है, वे मेरे पीछे पड़ गये। बोले—बतला हो दो, बतला हो दो, तुम इतनी

अस्वस्थ, इतनी उन्मना, इस तरह अहर्निश क्यों रहती हो ! तुम्हारे जीवन में कौन-सा दुःख, कौन-सी रिक्तता है ?

मैंने लाख समझाया कि दुःख-सुख मेरे जीवन में एक-से हैं। मुझे न दुःख है, न सुख है। कोई भी कमी नहीं है, मेरे जीवन में। फिर मैं कैसे कहूँ कि मुझे क्या चाहिए, क्या अभाव है मेरे जीवन का ! उन्होंने कहा—तुम मुझसे छल करती हो, मुझे अपनी आत्म-पुकार नहीं सुनातीं। मुझसे झगड़तीं नहीं; मुझसे मान नहीं करतीं। जो मैं कहता हूँ, वही मान लेती हो। नारी के हृदय में कभी कोई कामना, कोई आकांक्षा नहीं रहती—यह मैं कैसे मान लूँ; कैसे मान लूँ कि तुम्हारे मन में किसी वस्तु की कभी चाह ही नहीं होती ! न—न; यह तो असम्भव है—नितांत असम्भव।

मैं इस बात का क्या उत्तर देती। बड़ी देर तक मैं बोली नहीं। बस, इसी स्थल पर उन्होंने मुझे पकड़ लिया।

अंत में मैंने कहा—मैं बहुत संशयालु प्रकृति की हूँ। बार-बार मैं यही सोचा करती हूँ कि मेरे जीवन के इस सुख की कहीं थाह भी है, कहीं इसकी कोई सीमा भी है ! मैं रात-दिन यही तो सोचती रहती हूँ। तुमसे मैंने जब-जब जो-जो बात कही, तुमने झट से उसे पूरा किया। अब जब मेरी कोई चाह नहीं रही, तब मैं तुमसे किस बात की कामना करूँ ? एक दुःख मुझे अवश्य है कि तुम पीते बहुत

हो। मैंने समझाने की चेष्टा की, लेकिन मेरे समझाने से तुम मानते नहीं हो! अब और अधिक मैं तुमसे क्या कहूँ। कभी-कभी तो जी में आता है कि विष खा लूँ।

बस, तभी से मैं उन्हें एकदम से ऐसे परिवर्तित रूप में पा रही हूँ। अपने उज्ज्वल स्वरूप से उन्होंने मुझे आत्मसात् कर लिया है।

और भी एक दिन की बात है, मैंने उनसे कहा—मेरे मन में सदा एक संशय-सा लहराया करता है कि कहीं मेरा यह सुख ऐसा न हो कि भगवान् से देखा न जाय!

वे बोले—इस संशय को अपनी आत्मा से निकाल डालो। इस ममता को—जो झूठी है, जिसमें सार नहीं है—अपने जीवन से दूर फेंक दो।

मैंने कहा—मुझसे यह न होगा।

उन्होंने कहा—परन्तु तुमको ऐसा करना पड़ेगा।

इसी पर ज़िद बढ़ गई। वे तुरन्त यहाँ से चल दिये। दो वर्ष तक न तो उन्होंने दर्शन दिये, न कोई पत्र भेजा। अन्त में जब मैं एकाएक बीमार पड़ गई, तो वे आये और कहने लगे—अच्छा, इस बार तो मैं अपनी हार माने लेता हूँ। पर अब आगे न मानूँगा, चाहे जो हो।

कुछ दिनों में मैं पूर्ण स्वस्थ हो गई। तब से यही इनका रूप हो गया है। पहले दिन-भर शराब में डूबे रहते थे, अब दिन-भर भगवान् की आराधना में डूबे रहते हैं।

इस समय यदि तुम उन्हें पूजा-घर में जाकर देखो, तो पागल हो जाओ। या तो प्रार्थना करते-करते आँसुओं की धार बह रही होगी, या फिर आँख बन्द करके समाधिस्थ होकर बैठे होंगे। कभी-कभी अपने-आप हँसने लगते हैं। कभी अपने-आप ही बातचीत करते-करते किसी से झगड़-सा पड़ते हैं।

तत्क्षण "अच्छा तो मैं उधर ही जाता हूँ" कहकर—उठकर मैं चुपचाप उपासना-भवन की ओर चल दिया।

वहाँ पहुँचने पर सचमुच जौहरीजी को मैंने वैसा ही पाया जैसा चम्पा ने बतलाया था।

(५)

दो दिन हुए, जौहरीजी चले गये हैं। अब मुझे भी लखनऊ चला जाना है। कल से चम्पा फिर अस्वस्थ हो गई है। इस नारी की जीवन-सरिता की गति बड़ी विचित्र है। जगत् के प्राणीमात्र के प्रति अपार स्नेह की भावना इसके मानस में निरंतर लहराया करती है। जौहरीजी के प्रति इसके हृदय में कितना प्यार है, कह नहीं सकता। परन्तु एक बात निश्चित है कि इसके हृत्सागर में अथाह प्यार भरा हुआ है। उसे चाहे जितना रिक्त करने की चेष्टा करो, पर वह कभी कम नहीं होता।

कल भी मैंने लखनऊ जाने की एक बार फिर चेष्टा

की थी, पर उसके व्यावहारिक हठ और तद्विषयक आकस्मिक घटना-क्रम के कारण मुझे रुक ही जाना पड़ा।

जब मैं चलने को हुआ, तो उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली। विवश होकर, ज़रा देर में अपने-आपको, उसने स्थिर किया। तदनन्तर सोने की एक ज़ंजीर मुझे देकर वह बोली नारायण को बहुत दिनों से देखा नहीं है। अब तो वह चार-पाँच वर्ष का, ज़रा बड़ा, हो गया होगा। तुम इतने निष्ठुर हो कि वर्षों तक दर्शन नहीं देते। फिर भला नारायण को मैं कैसे देख सकती हूँ। यह ज़ंजीर उसे पहनने को देती हूँ। कहना—"तुम्हारी चाची ने तुम्हारे लिए भेजी है।" और, इस अंतिम वाक्य के समाप्त होते-होते उसे मूर्च्छा आ गई!

× × ×

कल ही इलाहाबाद को तार भेजकर एक कर्मचारी के साथ नारायण को यहीं बुला लिया था। अब आज चम्पा आग्रह कर रही है कि नारायण को मैं यहीं छोड़ता जाऊँ। और, मेरे मन में कोई कह उठता है कि उससे कह दूँ—तुम्हीं न मेरे साथ चली चलो!

परन्तु अंतर्यामी ही जानते हैं, ऐसी बात मैं उससे कह नहीं सकता। क्यों नहीं कह सकता, अब यह सब कैसे बताऊँ?

हृद्गति

(१)

मुझे देखते ही वह भीता हरिणी की भाँति चौंक पड़ी। मैं भी उसकी चकित भाव-भङ्गी देखकर कुछ सशङ्कित हो उठा। उसके बायें कपोल पर वैसा ही तिल था, वही मुक्त दन्तावली थी, पीठ पर भी वैसी ही कुन्तलराशि लहरा रही थी। मुझे इकटक एक बार देखकर उसने अपनी दृष्टि नत कर ली।

मैं बहुत कुछ समझ रहा था। ज्ञान का आलोक मेरी अन्तर्दृष्टि से परे नहीं था। अतीत जीवन की अनेक स्मृतियाँ एक-एक करके आ-जा रही थीं। एक बार तो जी में आया कि छज्जे पर से कूद ही पड़ूँ। पर अभी प्राण का मोह बना था। फिर मैंने यह भी अपने आप ही विचार किया कि यदि मुझमें इतना आवेग ही होता तो आज इसकी यह गति ही क्यों होती। मैं तो सदा से विवेकशील बनने का दम्भ रखता आया हूँ। मुझसे क्या यह हो भी सकेगा! न-न, मुझसे यह भला कैसे होगा? लोग चारों ओर से मुझे घेर लेंगे। कोई कहेगा—पापात्मा था और उसकी यह गति स्वाभाविक थी। कोई कहेगा—पतित था और ऐसे पतितों को भी यदि यह दण्ड न मिले, तो भला यह पृथ्वी कैसे स्थिर

रहे, प्रलय न हो जाय ! और यह सब तमाशा इन्हीं आँखों के सामने होगा ! सम्भव है, मैं उस समय चेतन अवस्था में होऊँ । यह भी सम्भव है कि अचेतन अवस्था में ही रहूँ । कुछ देर बाद मुहल्ले के लोग भी आकर मुझे देखेंगे, कहेंगे--कैसा ज्ञानी बनता था ! एक दिन कलई खुल ही गई !

हाँ भाई, यही सब बातें मानों एक ही क्षण में मेरे मन के भीतर कोलाहल मचाती हुई आई और चली गईं । फलतः मैं छज्जे पर से गिरना दूर रहा, उस ओर झाँक भी न सका । मैंने बहुत चाहा कि वह मुझसे कुछ बातें करे, मुझसे कुछ पूछे और अपनी कुछ कहे; पर वह तो उस समय वहाँ बैठ भी न सकी । झट से उठकर एक दूसरे कमरे में चली गई । मैं जैसा बैठा था, वैसा ही बैठा रहा । पर उस तरह बैठा रहना न उचित जान पड़ा, न मुझसे बैठा ही जा सका । अन्त में जब उठ कर मैं चलने लगा, तो भीतर ही से किसी को यह कहते सुना---अचानक बीबी की तबीअत नासाज़ हो गई । आप कल फिर तशरीफ़ लायें । बड़ी इनायत होगी ।

इन कानों ने ऊपर लिखे वाक्य किस तरह सुने, इस सम्बन्ध में क्या बताऊँ, कुछ समझ में नहीं आता । एक बार फिर जी में आया---आत्महत्या करना ठीक हो चाहे न हो, पर इस दशा में तो वही मेरे लिए अमरत्वदायिनी है । किसी तरह ज़ीने से उतर आया । उस समय सड़क पर वैसा जनरव

न था जैसा दिन में रहा करता है। रात के, ज़्यादा नहीं, केवल साढ़े नौ बजे थे। अनेक पुरुष इधर-उधर आ जा रहे थे। यद्यपि मैं शीघ्र चलने का उपक्रम कर रहा था, तथापि पैर तो जैसे सड़क पर जमे जा रहे थे। किसी तरह मकान तक आया।

अन्दर पहुँचते ही गृहिणी ने कहा—आज धनतेरस है, कुछ बर्तन नहीं ख़रीदोगे ?

मैंने जैसे कुछ सुना ही न हो।

उसने फिर दोहराया। कहा—सुना नहीं, अरे आज धनतेरस है। कुछ बर्तन ख़रीद लाओ। दो तश्तरी और एक कटोरदान फ़िलहाल ले लो। और तो किसी बर्तन की ज़रूरत है नहीं।

मैंने टालते हुए कह दिया—मुनुआँ कहाँ गया ? उसी को भेज दो। मेरे कौन जाय ? अरे हाँ, रोज़ तो जुता रहता हूँ। दो-एक दिन की जो फ़ुरसत मिली है, उसमें कुछ आराम भी तो कर लूँ।

वह बोली—जाने कैसा तुम्हारा स्वभाव हो गया है ! सड़े-से काम को भी टाल देते हो ! मुनुआँ इस समय भला घर में कभी रहता है कि आज ही रहेगा। फूलबाग़ में होगा, या सिनेमा देख रहा होगा।

मैंने कहा—तो इस समय तो मैं जाऊँगा नहीं। जब वह आये तभी उससे मँगवा लेना।

इस तरह मैंने किसी प्रकार गृह-जञ्जाल से तो क्षणिक छुट्टी ले ली। अब फिर जीवन की धुँधली स्मृतियों के साथ मैं डूबने-उतराने लगा।

कभी मेरे इस जीवन का वह प्रभात-काल था, जिसे मैं कच्चे दूध के फेन के समान पवित्र और कोमल समझता हूँ। जीवन के प्रभात-काल का प्रारम्भ मैं अष्टादश वर्ष से मानता हूँ। उससे पूर्व के जीवन को मैं मानव-जीवन न समझ कर उससे और भी उत्तर जीवन समझता हूँ। पके सन्तरे के कोयों में जब ख़ूब रस भरा हो, तब उनको छीलकर उनमें से बीज निकाल कर एक-एक करके खाने में जिन्हें मज़ा आता है, मैं उनमें मनुष्यत्व की अपेक्षा देवत्व की मात्रा अधिक पाता हूँ। अष्टादश वर्ष से पूर्व की अवस्था भी उसी कोटि की है। नहीं तो, मैं तो भई, अनेक रसमई कलियों का रस एकदम से एक साथ ही चूसने में मनुष्यत्व को पूर्ण यथार्थ रूप में देखने का अभ्यासी हूँ। शीतल समीर के मन्द-मन्द झोंके जब बहुत ही प्रिय लगें, जब अनन्त नील अम्बर की शोभा हम इकटक देखते रह जायँ, अथाह जल-धारा के साथ-साथ इतराते हुए तैरने की मस्ती जब हमें एक बार लहरा दे, तभी तो हमें अपने इस संसार का ज्ञान होता है। बस, कभी मेरा भी ऐसा ही जीवन था।

उस समय मैं बङ्गालबैङ्क में एकाउंटेंट महोदय का चीफ़ असिस्टेंट था। कानपुर के मालरोड पर मेरा मकान

था। उस मकान के ऊपरी भाग में मैं रहता था, नीचे एक किरायेदार। उनका नाम था राजीवलोचन। लोग उन्हें 'राजीव बाबू' कहते थे। वे थे तो डेढ़ पसली के, पर तेजस्विता और प्रतिभा उनमें ख़ूब थी। पान खाने के बड़े शौक़ीन थे। पान की लालिमा से उनके ओंठ सदा रञ्जित रहते थे। सफ़ाई उन्हें इतनी पसन्द थी कि कपड़ों पर एक भी शिकन या धब्बा उन्हें सहन न था। बड़े हँसमुख थे, उठते-बैठते, चलते-फिरते सदा मस्त रहा करते थे।

राजीव बाबू मेरा बड़ा आदर करते थे। पर मैं ? मुझे इतनी फ़ुरसत ही न रहती थी कि उनसे दो घड़ी बातें करता। चलते-फिरते जब कभी बातचीत हो जाती थी। कुशल-मङ्गल के सिवा प्राय: अधिक पूछ-ताछ की नौबत ही न आती थी।

इन राजीव बाबू की एक साली थी। उसका नाम तो था फूलमती, पर वह पुकारी जाती थी केवल 'फूल' नाम से। फूल सचमुच फूल ही थी। उसके कुन्दन वर्ण और सुगठित शरीर की शोभा सदा झलमलाती रहती थी। उसका कण्ठस्वर तो ऐसा मधुर था, ऐसा मधुर था कि कुछ न पूछो। कभी वह स्वर कान में पड़ जाता, तो मेरे मुँह का कौर मुँह में ही रह जाता था। एक दिन जब सचमुच यही हाल हुआ, तो गृहिणी ने टोक दिया। पूछा—क्या बात हुई ?

मैं पहले तो कुछ न बोला। एक प्रश्न यों ही टाल गया;

पर उसके फिर दुबारा पूछने पर मैंने कह दिया—यों ही। कोई ख़ास बात न थी।

किन्तु मेरी गृहिणी भी एक ठहरी। वह मेरे पीछे पड़ गई। बोली—क्या समूचा मिर्च ही दाँत के नीचे आ गई? नहीं तो बताओ क्या हुआ, तुम्हें मेरी सौंह।

अब मैं भला क्या करता! पहले तो जी में आया, कह दूँ—ऐसा जान पड़ा, जैसे सड़क पर से एकाउण्टेण्ट साहब बातें करते हुए जा रहे हों। पर जब उसने शपथ खिला दी तो कैसे झूठ बोलता। विवश होकर मुझे कहना ही पड़ा—फूल का बोल सुनकर रुक गया था। इसका स्वर कैसा मधुर है, कैसा प्रिय!

वह मुसकराते हुए बोली—तुम्हारी यह आदत न गई।

मेरे मुँह से भी निकल पड़ा—ले, यह तो न जायगी।

(२)

फूल राजीव बाबू के साथ ही रहती थी।

आप पूछें, भला ऐसा क्यों था?—तो मुझे एक ऐसा शब्द कह देना पड़ेगा, जिसे सुनकर आपको दुःख होगा। क्या आप सुनेंगे? अच्छा सुनिए, वह बाल-विधवा थी!

फूल थी तो विधवा, पर अपनी आत्मा से वह विधवा न थी। विधवा का तो कोई खो जाता है। फूल का कुछ खोया न था। विधवा प्राण रखते हुए निष्प्राण रहती है। फूल में तो प्राण ख़ूब ही उज्ज्वल था, ख़ूब ही चेतन। इसी लिए फूल

हँसती खूब थी। उसका खिलखिलाना सदा मेरे कानों में गुञ्जित रहता था। फूल गाती भी खूब थी। उसका गान मेरी आत्मा में निर्झर की भाँति अहर्निश मुखरित होता था। फूल रोना और मुँह लटकाना तो जानती ही न थी। और इस अर्थ में फूल अपराधिनी थी।

कुछ दिनों में राजीव बाबू की गृहिणी, उनकी साली, उनके खिलौने-जैसे प्यारे बच्चे मेरे यहाँ खूब आने-जाने लगे। अब फूल ने मेरे कमरे में भी प्रवेश पा लिया।

जब मैं बैङ्क से लौटता, तो प्रायः फूल को अपने ही घर में पाता। देखता, वह मेरी गृहिणी से प्यार के साथ बातें कर रही है। पर मुझे आया हुआ देख कर वह एक-दम से सिमटकर चुप हो जाती। कभी कटाक्ष से मुझे आद्यन्त निरखकर वह अपना मुँह नीचे कर लेती। कभी उसके आगे पुस्तक रखी होती, तो वह उसके अध्ययन का आलोक फेंकती। कभी उसके आगे पेंसिल रखी रहती, तो वह फ़र्श पर उसी पेंसिल से कुछ लिखने लगती। कुछ दिनों तक यही क्रम जारी रहा।

एक दिन जब मैं बैङ्क से लौटा तो गृहिणी को मैंने बहुत ही उदास पाया। एकाएक उसे उदास देखकर मेरा हृदय डोल गया। मैंने उससे पूछा—कहो रानी, आज इस तरह उदास क्यों हो? क्या हुआ, तबीअत तो ठीक है?

उसने कहा—या तो इस मकान को ही बदल दो, या

नीचे के किरायेदार से कह दो, मकान खाली कर दें। मैं ऐसे किरायेदार के साथ नहीं रह सकती।

मैं—आखिर बात क्या हुई, कुछ बताओगी भी या....।

वह—क्या बताऊँ मैं तुम्हें...एक हँसी, एक दुःख। मैं तो इनको बहुत अच्छा आदमी समझती थी। पर ये निकले निरे पशु। आज उन्होंने फूल को इतना अधिक पीटा है कि वह बेचारी बेहोश पड़ी है। एक ज़रा-सी बात थी। कोई बड़ी बात भी होती तो भी उनका यह व्यवहार कुछ उचित कहा जा सकता। जानते तो हो, वह स्वभाव की बड़ी चञ्चल है। मेरे सामने ही तुम्हारे लिए कहने लगी—जीजाजी मुझे बड़े अच्छे लगते हैं। ऐसी सुन्दरता मैंने अब तक किसी में नहीं पाई। सच जानो जीजी, अगर इनके साथ मेरा ब्याह हुआ होता तो मैं तो इनका नित्य चरणामृत लेती।...उसकी बड़ी बहन भी उस समय बैठी थी। यह बात उसने राजीव बाबू से कह दी। और बस इसी बात पर आज उन्होंने फूल की यह गति की है। मारने के सिवा गालियाँ भी उन्होंने उसे इतनी फूहड़ दीं कि मुझसे तो सुनी नहीं गई। तुम होते तो तुम भी उनसे उलझे बिना न रहते। ऐसा निर्दय आदमी कहीं देखा नहीं था। वैसे, आदमी सज्जन मालूम होते थे। पर कौन जानता था, ये ऐसे पशु निकलेंगे!...फूल बेचारी विधवा है। जीवन का सुख उसे यों ही नसीब नहीं है। बेचारी अभागिनी तो है ही। फिर अभी

उसकी उमर ही क्या है! अबोध ठहरी वह। जब उसे ज्ञान होता तो सब समझ जाती। आख़िर उसके भी तो हृदय है! हाय इस दुष्ट ने नारी-हृदय का कुछ भी विचार नहीं किया!

इसके बाद गृहिणी ने बतलाया कि राजीव ने फूल को इतना मारा है कि उसकी देह पर दर्जनों निशान पड़े हैं। मुझसे तो उसकी वे नीलिमा रेखाएँ देखी नहीं गईं। उसकी बहन ने बचाने की चेष्टा की, तो उस पर भी दो बेंत पड़ गये।

यह संवाद पाकर मैं एकाएक अस्थिर हो गया। मुझे उस दिन इस घटना पर बहुत ही अधिक दुःख था। मुझसे खाना तक नहीं खाया गया। घटना से मेरा भी अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। इस कारण और उपाय न देख मैंने राजीव बाबू को बुलाकर उन्हें अड़तालिस घण्टे के अन्दर मकान ख़ाली कर देने का नोटिस दे देना उचित समझा! यद्यपि उनके साथ मेरा यह व्यवहार अनधिकार-पूर्ण था। फिर भी मैं तो राजीव बाबू की सूरत तक नहीं देखना चाहता था। इसी लिए उस समय मैंने अपनी समझ से अच्छा ही किया था। संवाद पाकर मैंने राजीव से कहा—मैंने आज जो कुछ सुना है, उसके सम्बन्ध में आप मुझसे कुछ कहना तो न चाहेंगे?

राजीव की आँखों में जैसे ख़ून-सा छाया हुआ था। उसने कहा—वे सब मेरे घर की प्राइवेट बातें हैं। आपको उनकी चर्चा भी मुझसे न करनी चाहिए।

मैंने कहा—बहुत अच्छी बात है। अपने घर की शान्ति-रक्षा के विचार से, मैंने भी, अब आपको, इस घर में रखकर, अधिक कष्ट देने की आवश्यकता नहीं समझी है। जितनी जल्दी आप मकान खाली कर दें, उतना ही अच्छा। वैसे आप महीने भर में छोड़ सकते थे। पर अब तो मैं आपको दो दिन भी यहाँ नहीं रखना चाहता।

राजीव—आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

मैं—अपमान ही यदि मैं आपका कर सकता, तब तो मैं अपने आपको धन्य समझता। अपमान तो मैं आपका नहीं कर सकता। एक आपका ही नहीं, किसी का भी। यही तो मेरे जीवन की एक त्रुटि है।

उसी दिन राजीव ने मकान खाली कर दिया।

(३)

अब फूल मुझसे कोसों दूर थी।

सोते-जागते कभी-कभी फूल की याद आ जाती थी। उसका खिलखिलाकर हँसना और उसका गृहस्थी के काम करते हुए गुनगुनाना तो मुझे भूलता ही न था। संसार अपनी गति से चल रहा था। दो-चार महीने में जब कभी राजीव बाबू राह चलते मिल जाते थे, कभी दुआ-सलाम के सिवा उनसे कुछ भी बातचीत करने की इच्छा न होती थी। इस तरह धीरे-धीरे फूल की स्मृति भी धुँधली पड़ती गई।

एक बार एक मित्र के यहाँ प्रीति-भोज में मुझे भी सम्मि-

होना पड़ा। संयोगवश राजीव बाबू भी उसमें सम्मिलित थे। बाद नमस्कार के उन्होंने ही अपनी ओर से बातचीत प्रारम्भ की। वह धीरे से बोले—अपराध क्षमा हो, तो आपका कुछ समय नष्ट करूँ।

मुझसे यह न हो सका कि मैं मुँह फेर लेता। आखिर राजीव बाबू एक सुशिक्षित व्यक्ति थे। मैंने कहा—सहर्ष। कहिए, क्या आज्ञा है?

रा०—आज्ञा भला मैं आपको क्या दूँगा। आप बड़े आदमी हैं। आपको आज्ञा देने की ही अगर मेरी पद-मर्य्यादा होती तो मुझे आपके मकान से ही क्यों निकलना पड़ता। लेकिन खैर, उन बातों की चर्चा न की जाय, यही अच्छा है।

मैं—मैं आपको बहुत सहृदय समझता था। मेरे हृदय में आपके लिए बड़ा आदर का स्थान था। लेकिन मैं नहीं जानता था, जो ऐसा सहृदय हो सकता है, वह ऐसा कठोर, ऐसा पाषाण-हृदय भी हो सकता है। मानव-स्वभाव की परख मुझे न थी। मैं जानता हूँ, मुझे आपके प्राइवेट मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। फिर भी आप जानते ही हैं, घटनाओं का प्रभाव मानवात्मा पर पड़ता ही है। मुझे आपके साथ जो व्यवहार करना पड़ा, वह अनुचित था, यह मैं मानता हूँ। पर मेरे अनौचित्य में एक निरीह अबोध प्राणी के प्रति किये गये अत्याचार पर अपना रोष था। आप कहते हैं उस विषय की चर्चा न की जाय।

मैं कहता हूँ, मैं आपसे मिलूँ और उस विषय की चर्चा तक न करूँ, क्या यह सम्भव है ? आप यदि उस विषय की चर्चा नहीं करना चाहते, तो यदि मैं आपसे कह दूँ कि मैं भी आपसे बात नहीं करना चाहता, तो आपको बुरा तो न लगेगा ?

रा०—आपका अभिप्राय यह है कि यदि मैं ग़लती करूँ तो यह आवश्यक है कि उसके उत्तर में आप भी ग़लती करें। यदि मैंने ग़लती की, या मैं ग़लती कर रहा हूँ, तो उचित तो यह था कि धैर्य्य के साथ आप उसका समाधान-संशोधन करते। पर आप तो चिकोटी का जवाब बकोटे से देते हैं।

मैं—तो फिर चिकोटी काटी ही क्यों जाय ?

रा०—हाँ, क्यों काटी जाय ! किसने काटा चिकोटी, ज़रा बतलाइए तो।

मैं—आपने।

रा०—कदापि नहीं। आप भ्रम में हैं। जो लोग समझते हैं कि नारी का वैधव्य सामाजिक अत्याचार है, वे भी भ्रम में हैं। मैं तो इसे ईश्वरीय व्यवस्था मानता हूँ।

मैं—आपने उसे जो मारते-मारते बेदम कर दिया था, वह भी ईश्वरीय व्यवस्था थी ?

रा०—निस्सन्देह।

मैं—भ्रम में हैं आप। आपका दिमाग़ ख़राब हो गया है। उसकी दवा कीजिए।

कुछ देर तक फिर वार्तालाप बन्द रहा। फिर दावत उड़ाई गई। अन्त में जब सब लोग विदा होने लगे तो मैंने राजीव बाबू से पूछा—और कहो, सब लोग मज़े में हैं न? फूल आजकल कहाँ है?

राजीव ने कहा—और तो सब लोग मज़े में हैं। हाँ, फूल अपने पिता के यहाँ चली गई थी। वहीं उसका स्वर्गवास हो गया!

मैंने कह दिया—यह तो होना ही था।

मैं आँखें पोंछता हुआ घर चला आया।

(४)

मुझे अब राजीव के कथन पर सन्देह नहीं रह गया था। मैं समझता था, सचमुच फूल की मृत्यु हो ही गई होगी। पर उस दिन जब मैंने उसकी बिलकुल वैसी ही आकृति देखी, तो मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा, वह फूल तो भला क्या होगी! वह तो मर चुकी है। उसी आकार प्रकार की कोई और होगी। यह भी सोचा—सम्भव है, फूल ही हो। उसकी चर्चा को सदा के लिए बन्द कर देने के विचार से ही राजीव ने मुझसे वैसा कह दिया हो। इसी प्रकार के अनेक विचार मेरे मन-मानस में लहराये और उसी में अन्तर्हित हो गये।

दूसरे दिन चतुर्दशी थी। यह दिन छोटी दीपावली का माना जाता है। चौबीस घण्टे के बाद, मैं फिर उसी ओर जा

रहा था। ये चौबीस घण्टे बड़ी व्याकुलता में व्यतीत हुए थे।

ख़ैर साहब, मैं उसके कमरे में पहुँच गया। फ़र्श पर शीतल-पाटी की एक नई चटाई पर साधारण रीति से वह बैठी हुई थी। कल की सारी सजावट आज जाने कहाँ चली गई थी। न गद्दा बिछा था, न उस पर वह सफ़ेद चद्दर थी। मसनद भी नदारद थे। एक नौकरानी के सिवा दूसरा कोई भी वहाँ न था। झाड़-फानूस सबके सब पृथक् कर लिये गये थे। कल तो एक आश्चर्य्य मैं अपने साथ ले ही गया था। आज यह एक और महान् आश्चर्य्य मेरे सामने था।

मैंने पहुँचते ही पूछ दिया—आज यह परिवर्तन क्यों ?

उसने इसका उत्तर न देकर कहा—आओ बैठो।

मैंने अब उसे अच्छी तरह देखा। सचमुच वह फूल ही थी। मेरे आश्चर्य्य की सीमा न रही। कुछ क्षणों तक तो मैं चकित स्तम्भित बैठा रहा। फिर मैंने एक बार उसकी ओर आँख उठाकर देखा—छोटे-छोटे मोती सिलसिलेवार उसकी आँखों से निकल-निकलकर टप-टप गिर रहे थे! वैसे भी उसकी आँखें लाल थीं। जान पड़ता था, वह सोई नहीं है, रोती बहुत रही है।

नौकरानी पास ही बैठी थी। बोली—कल जब से आपको देखा है, इनका यही हाल है। अब तक कुछ भी नहीं खाया है। मैंने खाना बनाने को कहा तो इन्होंने मुझे

खाना नहीं बनाने दिया। फिर जब मैं मिठाई ले आई, तो उसे भी नहीं छुआ। वह ताक़ पर रक्खी है।

इसी समय फूल ने कहा—चल तू भी यहाँ से कल-मुँही! मैं तेरा भी मुख नहीं देखना चाहती।

नौकरानी बोली—मुझे सरग-नरक कहीं ठिकाना भी है जहाँ मैं चली जाऊँ। चली तो सब कुछ जाऊँ।

नौकरानी मकान के भीतरी भाग की ओर चली गई।

फूल ने उसी तरह रोते हुए कहा—अब आखिर वही तुम मिले जब...। इसके बाद वह कुछ कह न सकी।

मैंने उसकी इस बात का कोई उत्तर न दिया। मेरे मुँह से निकल पड़ा—मुझसे तो राजीव बाबू ने कहा था कि तुम्हारी मृत्यु हो गई।

वह बोली—ठीक ही कहा था उन्होंने। तुम्हारी उस फूल की सचमुच मृत्यु हो गई है। उसमें कितनी पवित्रता थी, वह कैसी निर्मल थी! मैं पापिन हूँ, पतित हूँ, ज्वालामुखी हूँ। लेकिन मैं तो ख़ैर जो कुछ हो गई, अपने दुर्भाग्य से हो गई; तुम इस कूचे में कैसे आये! क्या जीजी भी मर गई हैं?

मैं इसका क्या उत्तर देता!—चुप ही रहा।

फूल ने आँसू पोंछते हुए कहा—बोलो, तुमको तो मैं—माँ के दूध की तरह—बहुत ही पवित्र मानती थी। तुम्हारा यह पतन कैसे हुआ?

मैंने कहा—ईश्वर ने भले के साथ बुरे की भी सृष्टि की है। भले का तब तक स्वरूप ही स्थिर नहीं होता, जब तक बुरा न हो। जैसे पवित्रता एक वस्तु है, वैसे ही अपवित्रता भी है। है तो दोनों ही वस्तुओं से एक-दूसरे का अस्तित्व। वैसे हो हम भी मनुष्य हैं। हममें अनेक अच्छी बातें हैं, तो यह एक बुरी भी हमारी सहचरी है। अच्छी-ही-अच्छी भी क्या संसार में कोई वस्तु है? अच्छा, मैं अगर इस कूचे का पथिक न होता, तो आज भला तुमसे भेंट कैसे होती?

फूल बोली—तुम मेरे साथ भी ठठोली कर रहे हो।

मैंने कहा—ठठोली नहीं करता हूँ। मेरा जीवन भी कम दुखी नहीं है फूल। माता-पिता तथा भाई कोई भी तो मेरे नहीं हैं। यहाँ तक कि कोई सन्तान भी नहीं है। संसार के लिए जो कुछ भी, सुख माना गया है, उसमें मेरे लिए कहीं भी, कुछ भी, विधाता ने नहीं छोड़ा। तुम्हारी वह जीजी भी सदा रुग्ण रहती है। ऐसी दशा में तुम्हीं सोच देखो फूल, मैं कहाँ शरण लूँ। इधर इन गलियों में आते हुए मुझे आज दो वर्ष हो गये हैं। जब जी नहीं मानता है, किसी तरह सन्तोष नहीं होता, तब अपने आपको भुलाने के लिए इधर आ जाता हूँ। लेकिन ईश्वर जानता है, अभी तक अपने आपको भुलाने का कभी संयोग नहीं आया। यों ही घण्टे-आध-घण्टे हँसी-मसखरी की बातें कर लेना और बात है।

अब फूल ने कहा—तो अभी तुम पतित हुए नहीं हो। लेकिन पतन के मार्ग पर तो हो ही। क्यों, हो न ?

मैं—कैसे कहूँ कि नहीं हूँ !

अब फूल ने मेरी ओर देखकर ज़रा-सा मुसकरा दिया। मैं अपने आपको खोने लगा। कुछ क्षणों के बाद फूल फिर बोली—कल तुम्हारे चले जाने के बाद सोचा था, तुमको अब उस दशा में मुँह न दिखलाऊँगी। लेकिन वैसा सोचकर ही रह गई, कुछ कर न सकी। यदि कष्ट झेलना हो निश्चित है तो उनकी चरमसीमा ही देखना चाहती हूँ। कष्टों से भागना कायरता है।

मैंने कहा—अब तुम्हें कष्ट न होगा। उस अवस्था को तुम पार कर चुकी हो। अभी तक हिन्दू-समाज तुम्हें अग्राह्य समझता था। पर एक दिन आयेगा, जब तुमको देखकर, तुमसे बातें करके, उसी हिन्दू-समाज का शिक्षित-समुदाय अपना गौरव अनुभव करेगा।

फूल—किस प्रकार ?

मैं—मेरे एक मित्र एक फ़िल्म-कम्पनी के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं। उसमें ऐक्ट्रेस के पद पर तुम्हें नियुक्त करा दूँगा। कुछ काल तक अभ्यास करना पड़ेगा। फिर तो तुम आसमान से बातें करोगी। लेकिन तुमको बम्बई जाना होगा।

फूल—तुम न चलोगे ?

मैं—मैं वहाँ जाकर क्या सुपारी फोड़ूँगा !

फूल—तब तो मैं वहाँ न जाऊँगी।

मैं—जाओगी कैसे नहीं, मैं तुम्हें वहाँ भेजकर ही मानूँगा।

—तुम्हें पाकर अब मैं कहाँ जाऊँगी। वैसे तो तुम कभी मुझे मिल न सकते, ऐसे ही मिल गये। अपने इस सौभाग्य को अब मैं नहीं खोना चाहती।—कहते-कहते फूल की आँखों में आनन्दाश्रु छलक आये।

(५)

बहुत दिनों तक तो अपनी गृहिणी से मैं फूल की बात छिपाये रहा। पर एक दिन मैंने सारी बातें उसे बता ही देना उचित समझा। मैंने इस तरह कहना शुरू किया—

—आज अचानक फूल से मुलाक़ात हो गई।

—तुम तो कहते थे, वह मर गई !

—हाँ, मुझे राजीव बाबू ने यही बतलाया था। आज मालूम हुआ, उन्होंने यह बात झूठ कही थी।

—अच्छा, तो फूल किसके यहाँ आई है ?

—किसी के यहाँ नहीं, अपने यहाँ।

—अपने यहाँ कैसे ? क्या अपने जीजा के यहाँ आई है ?

—नहीं। वह अब वेश्या हो गई है।

—ऐं! वेश्या हो गई है!!

—चौंकती क्यों हो? एक दिन तो यह होना ही था। राजीव जैसे नर-पशुओं के व्यवहारों का और दूसरा परिणाम हो क्या होता।

—कुछ मालूम हुआ, किस तरह उसका इतना पतन हुआ?

—हाँ, एक युवक उसे उड़ा ले गया। कुछ समय बाद उसने उसे छोड़ दिया। जब फूल पथ की भिखारिणी बन गई तो विवश होकर उसे यह वृत्ति स्वीकार करनी पड़ी।

—नारी का इतना पतन भी हो सकता है, यह मैं न जानती थी। हाय, फूल कितनी अच्छी लड़की थी! भगवान् की लीला विचित्र है। अच्छा तो उससे भेंट कैसे हुई?

—संयोग से। कभी-कभी जी बहलाने के लिए मैं उधर चला जाता हूँ।

इस बातचीत के बाद कई दिन तक गृहिणी मुझसे बहुत रुष्ट रही। पर मैं कर ही क्या सकता था! एक दिन मैंने अपने मन की बात उससे कह दी। मैंने कहा—मैं तुम्हारा ही हूँ, तुम्हारा ही सदा रहूँगा भी। यदि तुम मुझ पर अविश्वास करोगी, तो तुमको उलटा दुःख ही होगा। और सो भी भ्रम-मूलक। मैं तुमसे कोई छल तो नहीं रखता। जो कुछ मैं करता हूँ, तुम्हें सभी कुछ बता देता हूँ। कुछ भी तुमसे छिपाता नहीं।

एक दिन वह बोली—मैं फूल से मिलना चाहती हूँ।

मैंने फूल से उसकी भेंट करा दी।

फूल उससे भेंटकर ख़ूब रोई। अपनी व्यथा बतलाते हुए उसने कहा—जीजी, मैं करती भी क्या! महीनों अधपेट रहकर मैंने चेष्टा की कि दुर्बल होकर बीमार पड़ जाऊँ, एक बार विष भी खाया; पर फिर भी बचा ली गई। अन्त में जब मुझे विश्वास हो गया कि दुख मुझे झेलने ही होंगे तो यह जीवन स्वीकार किया।...जीजी, संसार मुझसे घृणा कर ले, लेकिन मेरा विश्वास है, पूरा विश्वास है, ईश्वर मुझसे घृणा नहीं करेगा। उसकी दया-ममता अथाह है। अभी इस पतित जीवन का प्रारम्भ भी तो नहीं हो पाया था कि जीजा जी मुझे मिल गये। तुम उन्हें कुछ और न समझना। वे ज़रा भी नहीं बदले हैं। वे सचमुच देवता हैं। मैं तो उनकी बातें, उनके विचार, सुनकर हैरान रह जाती हूँ। वे भी मुझसे घृणा नहीं रखते जीजी।

गृहिणी ने बड़े प्रेम के साथ उसे खिलाया-पिलाया, बातें कीं और विदा किया। धीरे-धीरे दोनों में पहले जैसा स्नेह हो गया।

जब मैंने बहुत ज़िद की, हफ़्तों समझाया, तब फूल बम्बई जाने पर राज़ी हुई। बम्बई पहुँचने पर, थोड़े ही दिनों में उसकी गणना सुप्रसिद्ध अभिनेत्रियों में हो गई।

मेरा संसार फिर पूर्ववत् चलने लगा। फूल हर हफ्ते चिट्ठी भेजती। जब कभी उत्तर देर से मिलता, तो बहुत दुख प्रकट करती। हर महीने वह कानपुर आती, होटल में ठहरती और मुझसे मिल-भेंटकर चली जाती।

धीरे-धीरे मेरी परिस्थितियों में बड़ा परिवर्तन हो गया था। नौकरी छूट गई थी। मकान बिक गया था। एक कन्या सयानी हो गई थी। पर फूल पर मैंने कुछ प्रकट नहीं किया था।

एक दिन वह आई और मुझे सपरिवार बम्बई उड़ा ले गई। वहाँ पहुँचकर मेरा जीवन फिर सन्तोष की धारा में प्रवाहित होने लगा। कुछ दिनों तक तो यही हाल रहा। पर धीरे-धीरे मुझे उस तरह आश्रित रहने में कुछ ग्लानि-सी हो उठी।

बम्बई में फूल के साथ घण्टों बातचीत करने का अवसर मिलता था। एक दिन मैंने कहा—फूल, तुम्हारा यह वैभव उपभोग करके भी मेरे हृदय को पूरा सुख-सन्तोष नहीं होता। इससे तो हम लोगों का वह कानपुर का दरिद्र-जीवन कहीं अधिक सुखकर था।

फूल बोली—तो तुम्हें यहाँ मेरे साथ रहना पसन्द नहीं है!

मैंने कहा—तुम्हारे साथ रहने-न-रहने की बात नहीं है। बात है साधारण जीवन बिताने की।

फूल बोली—मैं भी यही चाहती हूँ। चलो, कहाँ चलोगे ?

मैं—मैं अपनी बात कहता हूँ, तुम्हारी नहीं।

तब फूल ने उत्तर नहीं दिया।

किन्तु कुछ सोचकर वह फिर बोली—जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिए।

दूसरे दिन मैंने बम्बई छोड़ दिया।

फूल स्टेशन तक आई। मैंने उसका उदास मुख देखकर उसे बहुत धैर्य्य बँधाने की चेष्टा की; पर उसने मेरी किसी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने अपने आपको समझा-बुझाकर बहुत चेष्टा की कि मैं इस तरह बम्बई न छोड़ूँ; पर अन्त में मैं अपने निश्चय से डिग न सका।

ट्रेन स्टार्ट होने से पहले फूल मेरी गृहिणी को दस हज़ार रुपये का एक चेक देती गई। किन्तु यह बात मुझे पीछे मालूम हुई। चलते समय मैंने फूल को देखना चाहा। पर वह ख़ुद ही मेरी आँखों के सामने से हट गई। इधर ट्रेन स्टार्ट हुई। बहुत से लोग उधर पीछे की ओर दौड़ पड़े। मेरे हृदय का पेण्डुलम भी डोल उठा। मैंने ज़ंजीर खींचकर ट्रेन खड़ी करा दी। दौड़ कर भीड़ को चीरते हुए मैं जो घटनास्थल पर पहुँचा तो देखता क्या हूँ,

फूल का निष्प्रभ, निष्प्राण शरीर ही शेष है। जिस फूल को मैं देखना चाहता था, वह उड़ गया है!

अब मुझे याद आया, फूल ने एक दिन कहा था—"अब मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जाऊँ! वैसे तो तुम कभी मुझे मिल न सकते। ऐसे ही मिल गये हो!"

आज बार बार जी में आता है, मैंने जो उसे छोड़ने की चेष्टा की, तो उसी ने मुझे छोड़ दिया! विधि की यह कैसी विचित्र लीला है!

तारा

आज मेरी सारी रात जगते बीती है। यों जीवन में अनेक बार ऐसी घटनाओं में पड़ गया हूँ कि रातभर करवटें ही बदलता रहा हूँ और लेटे-ही-लेटे, सोचते-विचारते सबेरा हो गया है। पर वे बातें अन्य प्रकार की होती थीं। कल ऐसी कोई बात नहीं हुई। फिर भी मैं सारी रात सो नहीं सका। आप कहेंगे, कोई-न-कोई कारण इसका भी होगा ही। और यदि आप ऐसा कहेंगे, तो मुझे भी आपकी यह बात मान ही लेनी पड़ेगी। परन्तु मैं चाहता यह हूँ कि आप स्वतः मेरी यह कहानी सुनकर निश्चय कर दें कि मेरे आज के इस जागरण का कारण कहाँ तक अनुचित है।

कई वर्ष पहले की बात है। मेरी उमङ्गों की वह दुनिया ही निराली थी। प्रातःकाल जब एकाएक नींद खुलती थी, तब यही जी चाहता था, ज़रा देर और लेटा रहूँ, एक बार मस्ती की एक नींद सो और ले लूँ! आजकल तो इतने सवेरे नींद उचट जाती है कि चटपट दैनिक कार्यक्रम में सिर डाले बिना जीवन की गाड़ी के पहियों का आगे बढ़ना ही कठिन हो जाता है।

हाँ, तो उस समय सरदी के दिन बीत चुके थे। वायु में थोड़ी-थोड़ी उष्णता आ रही थी। सायङ्काल जब अपने

मित्र राजीव बाबू को साथ लेकर कैनिंग रोड पर टहलने निकला, तो उन्होंने इधर-उधर की बातों के बाद कह दिया—"चलो कहीं घूम आवें। आजकल यहाँ तबीअत नहीं लग रही है।"

"कहाँ चलने की इच्छा है?"

"कश्मीर।"

"अच्छा!—यह बात है!!" कुछ-कुछ आश्चर्य्य से, कुछ-कुछ आनन्द और विनोद के भाव से, ज़रा-सी मुसकराहट मुद्रा पर लाकर, मैंने कहा।

राजीव बाबू ने ज़रा भी भाव बदले बिना चट से कह दिया—"हाँ, इस समय यहाँ से तबीअत एकदम उखड़ रही है।

"तो कब प्रस्थान करने की इच्छा है?" मैंने पूछा।

वे बोले—"चलना तो इसी समय चाहता था, लेकिन तुम कहने लगोगे कि 'सनक' भी हो, तो ऐसी; इसलिए इस समय तो नहीं, पर हाँ, सवेरे सेविन अप (7 up) से अवश्य चल देना चाहता हूँ। तैयार रहना।"

इनके मारे मैं बड़ा परेशान रहा करता हूँ। अजीब झक्की शख़्स हैं। तबीअत क्या है, एकदम मधुकर-सी! आदमी होकर भी डाल-डाल पर जाना और गुंजन करना ही इनकी प्रकृति है। स्वभाव के ज़िद्दी इतने हैं कि अपने भाइयों में हालाँ कि हैं सबसे छोटे, लेकिन आतङ्क इतना

रखते हैं कि इनके बड़े भाई भी इनकी बात कभी टाल नहीं सकते। वे सदा इनका रुख़ देखते रहते हैं। जितने दिन ये घर पर रहते हैं, नौकर थर-थर काँपते हैं। अगर किसी असामी से रुपया वसूल नहीं हो रहा है, तो किसी नौकर का उसके घर जाकर केवल इतना ही कह देना यथेष्ट है कि उसे छोटे सरकार ने बुलाया है। साहसी इतने कि कई बार डाकुओं से घिर गये; परन्तु कभी आत्म-समर्पण नहीं किया। दिन-रात उनके साथ रहे और मौक़ा मिलते ही चकमा देकर चलते बने। और तारीफ़ यह कि दूसरे ही दिन उनके ग़ोल के ग़ोल को पुलिस के हवाले करा दिया!

एक बार तो जान ही सङ्कट में पड़ गई थी। जब और उपाय न देखा, तो घोड़ा छोड़ दिया और एक पेड़ पर चढ़ गये। अँधेरी रात और वर्षा के दिन। चारों ओर दस-दस मील तक विकट जङ्गल-ही-जङ्गल। नीचे डाकुओं का दल डेरा डाले हुए है, निकट ही आप एक पेड़ पर विराजमान हैं। सात हज़ार रुपये के नोट कमर में बँधे हुए हैं। एक बार दस्यु-दल के एक आदमी को शक हो गया कि हो-न-हो, वे यहीं किसी पेड़ पर हैं। फिर क्या था, सभी पेड़ों पर दनादन बन्दूकें दाग़ी गईं। आपके पैर में एक गोली भी लगी। कहीं अचेत होकर गिर न पड़ें कि फिर पीछे पकड़े जाने पर जान से ही हाथ धोना पड़े, इसलिए तुरन्त साफ़ा उतारकर उसी से अपने शरीर को, पेड़ की डाल से बाँध

लिया। ख़ून का एक बूँद नीचे नहीं टपकने दिया। बड़ी रात तक पेड़ पर रहे, परन्तु भयङ्कर पीड़ा के समय भी मुँह से 'आह' का शब्द तक न निकलने दिया। जब रात अधिक बीती और दस्यु-दल के लोग माल मारने के लिए चले गये, तब रात को ग्यारह बजे के लगभग, पेड़ से उतरे। टार्च के आलोक से पैर की पट्टी खोली और जूते की कील निकाल कर, गोली को घाव के बीच से ठेल-ठालकर, उसे ढीला करके फिर उसी ख़ून से लथपथ गोली को, अपने दाँतों से खींचकर निकाला! फिर पट्टी बाँधकर घिसिल-घिसिलकर एक मील का सफ़र तय किया, तब कहीं पाँच-सात घरों का एक पुरवा मिला। उसमें रहते थे धोबी! एक छप्पर के नीचे गधा बँधा था। उसे खूँटे से छुड़ाकर उसी पर सवारी की और नौ मील का रास्ता तय करके सबेरे पाँच बजे तक अपने गाँव आ पहुँचे।

ये हज़रत ऐसे विकट साहसी जीव हैं! एक दिन बोले देखो तो बिहारी ज़रा घटना और उसके संयोग को! हाथी पर सवारी करनेवाले व्यक्ति को भी गधे पर सवारी करने के लिए कभी-कभी कितना विवश होना पड़ता है!

हाँ साहब, तो मैंने भी राजीव बाबू से ज़रा अदब के साथ कह दिया—-जो हुकुम सरकार! हाज़िर हूँ, हर तरह की ख़िदमत के लिए।

"देखो, शैतानी मत करो। मैं बहुत सीरियसली

(Seriously) कह रहा हूँ।" उन्होंने चाँदी के पनडब्बे से दो बीड़े पान निकालकर मुझे देते हुए कहा।

"तो मैं भी मज़ाक में थोड़े ही कह रहा हूँ" मैंने उत्तर देकर उस समय की इस बात को वहीं समाप्त कर दिया।

(२)

प्रातःकाल ट्रेन पाँच बजकर सैंतालिस मिनट पर रवाना हो जाती थी। इसलिए पाँच बजे मैं राजीव बाबू के मकान पर पहुँच गया। वृद्ध नौकर लछमन भी साथ चलने को तैयार था। तुरन्त ताँगे पर बैठकर हम लोग चल दिये। सबसे पहले मैंने ही यात्रा-काल के वार्तालाप का श्रीगणेश किया। मैंने पूछा—आवश्यकता की सभी चीज़ें रख ली हैं न, राजीव बाबू! ऐसा तो नहीं है कि ज़रूरत पड़ने पर फिर "अरे!" शब्द से प्रारम्भ करके कहने लगो कि "रिवाल्वर तो भूल ही आया जिसे मैं ख़तरे के समय जीवन का सबसे बड़ा साथी समझता हूँ।" क्योंकि ऐसी स्थिति में तुम्हारा वह 'अरे' शब्द पहले ही प्राण-हरण कर लेता है। सचमुच, मैं इस 'अरे' शब्द से बहुत घबराता हूँ।

राजीव बाबू कुछ-कुछ मुसकराते हुए बोले—घबराने की कोई बात नहीं है बिहारी बाबू। यों मुझे तो अपना उतना भरोसा नहीं रहता। पर लछमन हमारे साथ चल रहा है; इसलिए मुझे विश्वास है कि कोई भी आवश्यक वस्तु साथ

में लेना वह कभी भूल नहीं सकता।" और जेब से पनडब्बा निकालकर उसमें से दो पान मुझे देने लगे।

पान लेकर मैंने कहा—तब ठीक है। मैं भी इस विषय में तुम्हारी अपेक्षा लछमन का अधिक भरोसा करता हूँ।

अब लछमन बोल उठा—बाबू जी, असल बात यह है कि पैंसठ बरिस की उमिर में ही मैं जो इतना बूढ़ा देख पड़ता हूँ, सो इसका कारण यही है कि मैं जिस काम को छूता हूँ, जब तक उसको पूरा नहीं उतार देता, तब तक मुझे चैन नहीं पड़ता। इसी लिए मैं सदा हिसाब फैलाये रहता हूँ। सदा मेरी निगाह हिसाब पर ही रहती है। कल ही भैया ने, जब शाम को बतलाया कि तुम्हें सबेरे मेरे साथ चलना है, तो तैयारी के लिए मुझे तुरन्त ज़रूरी चीज़ों का हिसाब फैलाना पड़ा। मैंने देखा कि बिस्तर तो खैर जायगा ही, पर अगर मसहरी साथ में नहीं ले चलूँगा, तो भैया को तकलीफ़ होगी। इसी तरह मैं रात को ग्यारह बजे तक हिसाब फैलाये रहा। मैं यही सोचता रहा कि कोई चीज़ छूट रही है। और अन्त में मैंने छूटी हुई उस चीज़ को पकड़ ही लिया। जब सब चीज़ें रख लीं, तब पीछे से उसका पता चला। वह तो कहो जोगिनी उस समय सीधी थीं, जो पता चल गया; नहीं तो ऐन वक्त पर ऐसा धोखा होता कि बस इस बुढ़ापे में मेरे मुँह पर कालिख ही पुत जाती!

मैंने उसी समय कुतूहलवश पूछ दिया—कौन-सी चीज़ छूटी जा रही थी रे लछमन ?

वह बोला—बाबू, क्या बतलाऊँ, मुझे कहते सरम आती है। आप भी कहने लगेंगे कि इतने दिन का पुराना नौकर इस बुढ़ापे में सिड़ी हो गया ! मालिक, वही जो मीठा और कुछ-कुछ खट्टा मिलवाँ शरबत, आप लोग रोज़ पीते हो न ?—जिसे क्या कहते हैं···अरे, अब मुझे तो उसका नाम···अरे हाँ, मुझे वह बोली नहीं आती, मैं बतलाऊँ कैसे···अरे वही, बाबू क्या कहते हैं उसे ?—लैमन लैमन। अच्छी याद आई बखत पर ! उसी की बोतल खोलने की वह जो लकड़ी की फुल्ली होती है, वही। मैं सोचने लगा। भैया लैमन की बोतलें मँगवायेंगे ही। तब मैं उसे खोलकर शीशे के गिलास में दूँगा कैसे !

इसी समय राजीव बाबू उसकी इस बात को सुनकर मेरी ओर देखकर मुसकराने लगे। और मैंने कहा—इसी लिए तो मैंने इनसे कहा था लछमन, कि अगर सफ़र में आराम से रहना चाहो, तो लछमन को साथ में अवश्य ले लो।

लछमन बोला—अरे बाबू, मैंने इसी घर की ख़िदमत में अपनी यह ज़िन्दगी बिताई है। अब क्या है ! अब तो बस इतनी साध और बाक़ी है कि जब मैं मरूँ तो मुझे मालिक लोग गङ्गाजी में और फिकवा दें; और बस !

उसका कण्ठ भर आया—आँखों में आँसू छलछला आये।

स्टेशन आ गया था। मैंने झट उतरकर कुली बुलाकर सामान को प्लेटफ़ार्म पर भेज दिया। साथ में लछमन को कर दिया। हम लोग बुकिंग आफ़िस की ओर चल दिये।

(३)

अब हम लोग ट्रेन पर थे। तीसरे दर्जे में आमने-सामने की बेंचों पर हम लोग अपने-अपने बिस्तर जमाये हुए लेटे थे। पास ही दूसरी बेंच पर लछमन एक दरी बिछाकर लुढ़क गया था। उसके सिरहाने उसका झोला था।

राजीव बाबू ने लछमन की ओर देखकर कहा—रातभर का जगा है। बारह बजे तक तो सामान की उठाबा-धरी ही करता रहा फिर जब फ़ुरसत पाई, तब सोया। पर बेचारा सो क्या सका होगा? इधर साढ़े तीन बजे से ही फिर जग पड़ा था।

ट्रेन अपनी चरम द्रुतगति से चली जा रही थी कि एकाएक उसकी चाल मन्द पड़ने लगी। यहाँ तक कि पाँच मिनट में खड़ी भी हो गई। मैंने खिड़की से सिर निकालकर देखा। मालूम हुआ, सिराथू स्टेशन निकट है।

अब राजीव बाबू भी मेरी ओर आकर खिड़की से नीचे की ओर झाँकने लगे। गार्ड तब तक सतर्कता से हर एक डब्बे पर नज़र फेंकता हुआ सेकण्ड क्लास के एक डब्बे के

निकट रुककर ऊपर चढ़ने लगा। धीरे-धीरे और भी दो-चार व्यक्ति उधर जाते हुए देख पड़े। तब तक राजीव बाबू भी ट्रेन से उतर पड़े। मेरी ओर कुछ अर्थ-भरी दृष्टि से देखकर वे बोले—मैं उधर ही जाता हूँ। देखता हूँ, बात क्या है।

अब मैं भी उतरकर राजीव बाबू के पीछे हो लिया।

जब तक हम लोग उस डब्बे के निकट पहुँचें-पहुँचें, तब तक देखते क्या हैं कि एक स्त्री डिब्बे से उतरकर ट्रेन के पीछे की ओर जा रही है। उसके साथ, किन्तु कुछ पीछे, एक युवक भी है। पर उसकी गति में वैसी तत्परता नहीं है, जैसी साथवाली उस रमणी में, जो उससे आगे जा रही है।

सभी दर्शक एक-दूसरे से पूछ रहे थे—बात क्या है, कुछ पता चला?

एक व्यक्ति ने बतलाया—कोई चीज़ गिर पड़ी है।

'क्या गिर पड़ा है? किसका गिर पड़ा है? गिर कैसे पड़ा?' आदि प्रश्नों की झड़ी इधर लगी हुई थी लोग तरह तरह से अपना-अपना कुतूहल शान्त कर रहे थे उधर राजीव बाबू आगे बढ़कर उस रमणी के पीछे जानेवाले युवक के निकट जा पहुँचे। उनके साथ में गार्ड महाशय भी थे। लगभग दस मिनट का समय व्यतीत होने पर लोग लौट पड़े। निकट आने पर मालूम हुआ—इसी रमणी का 'इअर-रिङ्ग' गिर पड़ा था।

एकबारगी दर्जनों व्यक्तियों की दृष्टियाँ जो उस सुनयना

पर जा पड़ीं, तो उसके उल्लसित मुख पर लज्जा की झीनी छाया-सी पड़ गई। उसके चकित मृग-लोचन नतमना हो गये। उसके अरुणाभा लिये हुए भाल और कपोलों पर श्रम-सीकर झलकने लगे।

ये श्रम-सीकर भी कभी-कभी बड़ा सौभाग्य पा जाते हैं भाई! त्वचा के भीतर इनका अस्तित्व जैसा-कुछ रहता है उसकी कल्पना करके देखो और फिर ज़रा सोचो कि जब ये अपने निवास से बाहर आते हैं, तब कैसी शान्ति, कैसी शीतलता, कैसा रम्य आवास और कैसा चारु संयोग इन्हें अनायास उपलब्ध हो जाता है!

युवक का मुख अब भी उतरा हुआ था। उसकी आँखों से उद्विग्नता तथा आतुरता का भाव स्पष्ट देख पड़ता था। गार्ड ने उस रमणी और युवक से पूछताछ करके कुछ नोट किया। धीरे-धीरे सब लोग अपने-अपने डब्बे की ओर चल दिये। अब हम लोग भी अपने डब्बे में चले आये।

ट्रेन जब चलने लगी, तो राजीव बाबू बोले—इस घटना के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या मत है?

मैंने कहा—मैं अभी उसका अध्ययन नहीं कर सका। तुम क्या समझते हो?

राजीव बाबू बोले—मुझे तो कुछ दाल में काला प्रतीत होता है। यह रमणी उस युवक की बहन नहीं है, न स्त्री, न भाभी। ये तीनों बातें निश्चित हैं, ध्रुव सत्य। युवक की

अवस्था बीस-बाईस वर्ष की है और रमणी यद्यपि देखने में कम अवस्था की जान पड़ती है, तथापि अपने गाम्भीर्य्य और सतर्क-तत्पर आचरण के कारण उसकी अवस्था मुझे पचीस से कम प्रतीत नहीं होती। वेश-भूषा से ये लोग गुजराती जान पड़ते हैं। रमणी की भाँति यदि युवक भी यथेष्ट कर्त्तव्य-निष्ठ होता, तो उसे हम उस रमणी के इतना पीछे न पाते। सच पूछो तो उसे सबसे आगे होना चाहिए था। पर मैंने एक तो उसे पीछे पाया और दूसरे उसके मुख पर घबराहट के स्पष्ट चिह्न देख पड़े। कोई भी ध्यान से देखनेवाला व्यक्ति उसके मुख पर हवाइयाँ उड़ती हुई देख सकता था।

इस अन्तिम विषय में मेरा और राजीव का मत मिल रहा था। अत: मैंने भी कहा—मुझे भी उस युवक की चेष्टा से ऐसा ही प्रतीत हुआ।

राजीव बाबू अब बोल उठे—और सुनो, मैंने जब उससे पूछा, आप कहाँ से आ रहे हैं, तब पहले तो उसने बतलाया कराँची से, पर अन्य बातों के बाद अन्त में जब मैंने इस प्रश्न को पुन: पूछ दिया, तो उसने कहा—बम्बई से!

मैंने कहा—वाह! यह अच्छी बात तुमने पकड़ी। इसका तो सीधा अर्थ यही होता है कि तुम इन लोगों को भागा हुआ सिद्ध कर रहे हो!

राजीव बाबू ने इसका कुछ जवाब न देकर कहा—और सुनो। ये लोग, जानते हो, जा कहाँ रहे हैं?

"बतलाओ"—मैंने कहा।

"दिल्ली" कहते हुए उन्होंने बतलाया—और मेरा भी इरादा अब दिल्ली उतरने का हो रहा है।

अब मैंने कहा—तुम्हारी आदतें हो गई हैं ख़राब। क्यों बेचारों के पीछे पड़ते हो! यह भी कोई सज्जनता है?

वे गम्भीरता-पूर्वक बोले—ऐसी बात नहीं है, बिहारी बाबू! इसमें मेरा कोई बुरा अभिप्राय नहीं है। मैं केवल इन लोगों के जीवन की गति-विधि का परिचय-मात्र चाहता हूँ।

मैंने कहा—मान लो, तुम जो कुछ सोचते हो, वही ठीक है। तो फिर? इससे क्या हुआ?

वे बोले—तुम नहीं समझते हो, इन बातों को, बिहारी बाबू। नारी-जीवन के क्षण-क्षण में जीवन की अभिनव तत्त्व-मयी घड़ियों का सामञ्जस्य रहता है। कौन बात, कब, किस प्रसङ्ग से कैसी झलकती है पर यथार्थ में वह होती कैसी है, उसके मूल में क्या रहता है, यह कौन कह सकता है? मैं इस रमणी का अभी कोई भी परिचय नहीं पा सका हूँ, तो भी उसके प्रति मेरे मन में एक प्रकार का आदर का भाव न जाने कहाँ से आकर प्रवेश कर गया है। मैं तुम्हीं से पूछता हूँ, यह बात क्या है?

मैंने कहा—मैं तो इसे वासना-मूलक समझता हूँ। पहले पुरुष इन गुलाब के फूलों को देख-देखकर इनका आदर करने की चेष्टा करते हैं, फिर उनसे अपना निकटत्व स्थापित

करके उनका सौरभ लूटते हैं, और जब कभी संयोग पा जाते हैं, तो उन्हें उसकी टहनी से पृथक् करके सूँघते और फेंक देते हैं। मैं तो पुरुष-जाति को इसी रूप में देखता आया हूँ। तुम्हारी बात मैं नहीं कहता। तुम पर आक्षेप करना मेरा उद्देश्य भी नहीं है। परन्तु मैंने इस दुनिया को पाया इसी रूप में है।

इन्होंने कहा—तुम्हारा अनुभव ठीक है। तुमने जो कुछ देखा है, वह बहुत अंशों में यथार्थ ही है। परन्तु एक बात तुम भुला रहे हो बिहारी बाबू। वह है मानवात्मा के भीतर पनपनेवाला देवत्व। सभी दुरात्मा हैं, सभी पशु और विषयासक्त कीट, ऐसी बात नहीं है। अन्तर्दृष्टि को कुछ अधिक व्यापक बनाकर देखो, तो तुम्हें पता चले कि जिनको हम ऊपर से महापतित देख रहे हैं, उनका अन्तराल भी भीतर से स्वच्छता, निर्मलता और विशालता के कारण इतना दृढ़, उज्ज्वल और ज्योतिर्मय है कि स्वर्गोपम पवित्रता का ही वहाँ आवास है, नारकीय विषयासक्ति का प्रवेशनिषेध।

"ये ठहरे भावुक। इन्हें जहाँ देखो, वहाँ सावन के ही घन, हरियाली-ही-हरियाली, देख पड़ती है।" मैं यही मन-ही मन कहने लगा।

इसी समय लछमन उठा। वह टिफ़िनकैरियर निकाल-कर जलपान के लिए, हम दोनों के आगे, दो कटोरियों में कुछ मिष्ठान्न रखने लगा। राजीव बाबू ने कहा—केला और सन्तरा भी निकाल लो।

थोड़ी देर तक हम लोग मौन रहे। जलपान से जब निवृत्त हुए तो देखा—फ़तेहपुर स्टेशन आ गया है। ज्यों ही ट्रेन खड़ी हुई, त्यों ही राजीव बाबू उतरकर प्लेटफ़ार्म पर टहलने लगे।

(४)

इस बार मैं अपने कम्पार्टमेण्ट से नहीं उतरा। अख़बार बेचनेवाला मेरे निकट से जाने लगा तो मैंने उससे 'लीडर' ख़रीद लिया। अब मैं उसी के पन्ने उलटने लगा। परन्तु मुझे स्पष्ट देख पड़ने लगा, जैसे मैं अपने-आपको बहला रहा हूँ।

इस समय दो विचार मेरे मन में उथल-पुथल मचाये हुए थे। एक तो यह कि व्यर्थ ही में मैं इनके साथ आया। ये महाशय अपनी इच्छाओं के इतने ग़ुलाम हैं कि अपने-आप पर सदाचार, शिष्टता और संयम का कोई बन्धन ही नहीं मानते! और दूसरा यह कि ऐसी दशा में मेरा कर्तव्य क्या यही है कि मैं छाया की भाँति निरन्तर इनका साथ देता चलूँ! मित्र का तो यह कर्तव्य नहीं है। जो व्यक्ति अपने मित्र के हिताहित का ध्यान रखकर तदनुसार आचरण करने की क्षमता नहीं रखता, वह किसी प्रकार मित्र होने का अधिकारी हो नहीं सकता।

अब मेरे मन में आया—अच्छा रहा। आये थे मनोरञ्जन

के लिए, और यहाँ शुरू हो रहो है ताक-झाँक। हज़रत उसी कमरे के पास मड़रा रहे होंगे।

मैंने लछमन से कहा—चार पैसे के पान तो ले आओ, यह लो पैसे। दूर से यह भी देख लेना, राजीव बाबू कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं।

लछमन पैसे लेकर चला गया। मैंने फिर 'लीडर' उठा लिया। अब मैं फिर अपने-आपको फुसलाने लगा। सोचने लगा—उँह! इनका तो जीवन ही इसी प्रकार का है। इसके लिए अब कोई और उपाय भी तो नहीं है। इनकी यही तफ़रीह है! कितने प्रसन्न देख पड़ते हैं! जैसे एक नया जीवन-सा आ गया हो। जब घर से चले थे, तभी यह सोच लेना चाहिए था कि इनके साथ जो-कुछ घटनाएँ घटेंगी, धैर्य के साथ उनका निर्वाह करना ही पड़ेगा। अब तो कर्तव्य यही है कि हम सदा ऐसी चेष्टा में रहें कि जहाँ तक हो सके, इनके ऊपर कोई आपत्ति न आने पाये। बस।

और इसी समय राजीव बाबू स्वत: आकर कहने लगे—तुम नाराज़ न होओ, तो एक बात कहूँ।

मैंने अन्यमनस्क होकर कहा—"कहो"। पर 'लीडर' के उस पृष्ठ को मैं अपने सामने ही लगाये रहा।

वे तुरन्त बैठ गये। बोले—अच्छा! देखता हूँ, तुम पहले ही से भरे बैठे हो!

मैंने अब 'लीडर' को बेञ्च पर पटककर ज़रा उत्तेजित होकर कहा—आपका मन्तव्य क्या है, यह मैं सोच नहीं सकता, इतना भोला आप मुझे न समझें। इस बार आपके साथ आकर मैं तो पछता रहा हूँ। मैं नहीं समझता था कि आप इतने गिरते जा रहे हैं। आपके जी में जो कुछ आता है, जब आप उसके करने को सर्वथा स्वतन्त्र हैं, तब मुझसे कुछ भी पूछने की ज़रूरत ही क्या है? जो मन में आये, सो कीजिए। पर जब आप मुझसे कुछ परामर्श करें, तब तो जिस बात से मैं सहमत होऊँ, वही आपको मान्य होनी चाहिए। मैं अपनी पद-मर्यादा से गिरना पसन्द नहीं करता। मैं जैसा मित्र हूँ, वैसा, सोलहो आने, मित्र ही रहना चाहता हूँ। आपकी इच्छाओं का अनुचर या गुलाम नहीं। जो व्यक्ति सदा मित्र की हाँ में हाँ मिलाया करता है, मैं उसे मित्र नहीं, चापलूस दरबारी समझता हूँ।...हाँ, अब आप फ़र-माइए। वह एक बात कौन-सी आप कहना चाहते हैं, जिसके लिए पहले ही से यह सोच रहे हैं कि सुनकर शायद मैं नाराज़ हो जाऊँ।

उनका नशा उतर गया था। मुख की वह शोभन कान्ति फीकी पड़ गई थी। उत्तर में कुछ न कहकर वे अपने बिछौने-पर, एक रेशमी चादर से अपने-आपको आपाद-मस्तक ढक-कर लेट रहे।

उस समय मैंने भी कुछ कहना उचित नहीं समझा।

पर अपनी इस तेज़ी पर मैं अब स्वयं पछता रहा था। बात करते समय मैं उत्तरोत्तर जैसा आगे बढ़ता गया, उसके लिए वैसा मैं पहले से तैयार भी न था। परन्तु जब उन्होंने ही छेड़ दिया, तो मैं भी अपने-आपको सँभाल न सका।

ट्रेन छूटने ही को थी कि इसी समय लछमन पान ले आया। बोला—मैंने हिसाब लगाकर देखा, तो मालूम हुआ कि चार पैसों के पान से काम न चलेगा। इसलिए सीधे दो आने के ले आया हूँ।....भैया आ गये न? हाँ, आ तो गये। वहाँ कहीं मुझे देख नहीं पड़े।

अब ट्रेन चलने लगी थी। पान उसके हाथ से लेकर मैंने राजीव बाबू के ऊपर फैली हुई चादर को, उनके सिर की ओर से, खोलकर कहा—लो, पान तो खाओ, फिर पोछे नाराज़ हो लेना।

उन्होंने चादर को तो और भी मज़बूती से पकड़ लिया, पर भीतर से ही बोल भी दिया—"हमसे मत बोलो।"

"तो मैं अभी जञ्ज़ीर खींचता हूँ, बच्चू को जब पचास रुपये देने पड़ जाएँगे, तो अभी आटा-दाल का भाव मालूम पड़ जायगा।" कहकर मैंने ज़ोर देकर उस चादर को झटके से खोल दिया।

अब वे झट से उठकर बैठ गये और "मालूम क्या पड़

जायगा ? तब मेरी यह अँगूठा धोखे से नहीं गिर पड़ेगी ! खींच न देखो जञ्ज़ीर !!" कहकर ज़रा-सा हँस दिये !

(५)

आख़िरकार देहली में हमको उतरना ही पड़ा। रास्ते में फिर मैंने राजीव बाबू से कुछ विशेष गम्भीरता-पूर्वक बात-चीत करना उचित नहीं समझा। जहाँ-कहीं ट्रेन कुछ अधिक देर को खड़ी होती, वहाँ वे टहलने, कुछ ख़रीदने या शरबत पीने के बहाने उतर अवश्य पड़ते थे।

देहली स्टेशन पर उतरना पहले ही से निश्चित था। साथ ही यह भी तय हो चुका था कि ठहरेंगे काश्मीरी होटल में। प्लेटफ़ार्म पर ज्यों ही ट्रेन खड़ी हुई, त्यों ही राजीव बाबू झट से उतरकर बोले—आप चलिए, मैं भी पीछे से आ जाऊँगा।

मैं ताँगा करके, लछमन के साथ, काश्मीरी होटल में जाकर ठहर गया। वे एक घण्टा बाद आये।

देहली में हम लोग कई दिनों तक ठहरे रहे। दिन-भर घूमते, शाम से सिनेमा देखते देखते रात को एक बजे के लग-भग लौटते। सबेरे उठने में मुझे ज़रा देर हो जाती थी। पर राजीव बाबू प्रातःकाल उठने के अभ्यासी ठहरे। वे बराबर प्रातःकाल उठते और टहलने चले जाते और फिर लौटकर आठ बजे के लगभग आते। दोपहर को खाना खाने के बाद दो-

घण्टे सोने का उनका नित्य का नियम था और वह यहाँ भी चल रहा था।

एक दिन एक-डेढ़ बजे के लगभग राजीव बाबू जब सो-कर उठे, तो बोले—आज मुझे एक सज्जन से मिलने जाना है। वे एक फ़िल्म-कम्पनी के डाइरेक्टर हैं। सबेरे एक पार्क में उनसे भेंट हो गई थी। उन्होंने मुझे अपने स्टूडियो में आमन्त्रित किया है। अनुकूल अवसर देखूँगा, तो तुम्हें भी ले चलूँगा। आज ऐसा मौक़ा नहीं है।

पहले तो मेरे मन में आया कि पूछूँ, उनका नाम क्या है? परन्तु फिर मैंने सोचा—जब स्वत: इन्हीं की इच्छा इस विषय में और अधिक बतलाने की नहीं है, तो मैं ही क्यों इनको और अधिक छेड़ूँ।

उस समय मेरा चित्त कुछ उद्विग्न था। बार-बार मेरे कानों में कोई कह जाता था—हो न हो, कोई घटना होने ही वाली है, कुछ-न-कुछ नया संवाद सुनने को मिलने ही वाला है। परन्तु मैं धैर्य के साथ सभी कुछ देख रहा था। कभी ऐसा कोई संयोग नहीं आया था कि राजीव बाबू ने मुझसे कुछ छिपाया हो। परन्तु आज यह स्पष्ट जान पड़ रहा था, मैं पदच्युत हो रहा हूँ।

लछमन उस समय किसी काम से बाहर गया हुआ था। राजीव बाबू ने झट से हजामत बनाई और सूटकेस से अपना

नया सूट निकाल कर पहना। मैंने पूछा—तो श्रीमान् लौटेंगे किस समय तक ?

उन्होंने एक बार मुझे ध्यान से देखा पर और कुछ न कहकर वे बोले—कुछ निश्चित नहीं है। अपनी ओर से मैं ५-६ बजे तक लौट आने की चेष्टा करूँगा। पर अगर मेरे आने में देर हो, तो कल के निश्चित प्रोग्राम के अनुसार मैजिस्टिक सिनेमा में चले आना। वहीं मैं भी आ जाऊँगा।

उस दिन मैं कहीं जा नहीं सका। तबीअत ही कहीं जाने की न थी। और कुछ न देखकर मैं एक उपन्यास पढ़ने में लग गया।

सायङ्काल सात बजे के लगभग राजीव बाबू आये। उस समय वे मुझे बहुत प्रसन्न देख पड़े। मैंने पूछा—कहो, मिल आये उन सज्जन से ?

वे कपड़े उतारते हुए बोले—हाँ, मिल तो आया, पर एक झञ्झट भी मोल लेता आया।

मैंने पूछा—वह क्या ?

"बड़े सज्जन पुरुष हैं वे। बड़े ही आदर-भाव से उन्होंने मुझे लिया। आजकल उनको एक हीरो (ऐक्टर) की आवश्यकता है। मुझे देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि अपना यह अभिप्राय व्यक्त किये बिना उनसे रहा नहीं गया। मेरा रुख अनुकूल पाकर बोले—'प्रारम्भ में एक वर्ष तक मैं आपको सात सौ रुपये मासिक और द्वितीय वर्ष से नौ सौ रुपये

मासिक दे सकूँगा। परन्तु आपको इस कम्पनी में कम से कम तीन वर्ष तक अवश्य रहना पड़ेगा। इसके लिए मैं यह भी चाहूँगा कि आप मुझे इसी आशय का एग्रीमेंट भी लिख दें और मुझसे भी लिखा लें!' मैंने उनसे एक सप्ताह में उत्तर देने को कह दिया है।"—राजीव बाबू ने कहा।

मैंने कहा—फिर क्या है, अब तो पाँचो घी में हैं!

वे कुछ बोले नहीं, पर उसी दिन उन्होंने हम लोगों को विदा कर दिया।

राजीव बाबू ने कमलिनी फ़िल्म-कम्पनी में अधिक काल तक काम किया हो, सो बात नहीं है। एग्रीमेण्ट में उन्होंने कुछ अन्य शर्तें जानबूझ कर ऐसी रखी थीं कि जिस समय वे पृथक् होने की इच्छा करें, उस समय सहज ही बन्धन-मुक्त हो जायँ। वेतन मिलने के सम्बन्ध में उनकी यह शर्त थी कि प्रत्येक मास के अन्त की तीस या इकतीस तारीख़ को वह बिना माँगे मिल जाना चाहिए। व्यवहार के सम्बन्ध में उनकी शर्त थी कि यदि डाइरेक्टर महोदय कभी कोई भी अपशब्द, अपमानजनक बात या व्यवहार करेंगे, तो उन्हें यह अधिकार होगा कि वे बिना किसी प्रकार की सूचना दिये काम छोड़ दें। राजीव बाबू ने डाइरेक्टर महोदय के हृदय पर इस बात को अच्छी तरह जमा दिया था कि मेरी इच्छा इस प्रकार की सर्विस करने की क़तई नहीं है, केवल उनकी ख़ातिरन् मैं ऐसे बदनाम पेशे को स्वीकार कर

रहा हूँ। यदि उनका व्यवहार मुझे अपनाने की क्षमता रखेगा, तो मैं पृथक् ही काहे को होऊँगा। इस प्रकार जो भी शर्तें राजीव बाबू ने पेश कीं, डाइरेक्टर महोदय ने उन सभी को स्वीकार कर लिया था।

केवल एक खेल में वे काम कर सके थे और उसमें छः महीने नौ दिन लगे थे। वे लौट भी आये और उनसे प्रायः प्रतिदिन पूर्ववत् मिलना भी होता रहा, परन्तु फिर कभी मैंने इस विषय में उनसे कुछ भी बातचीत नहीं की। मैंने निश्चय कर लिया था कि अब कभी किसी भी यात्रा में, उनके साथ न जाऊँगा। और इसके बाद फिर कभी कोई ऐसा प्रसङ्ग नहीं आया।

(६)

अभी परसों राजीव बाबू बम्बई से लौटे हैं। उस दिन तो उन्होंने कुछ विशेष बतलाया नहीं। अधिक थके होने के कारण तबीअत ही इस क़ाबिल न थी। परन्तु कल जो बातें उन्होंने बतलाईं, उनको सुनकर मैं तो चकित-स्तम्भित हो उठा।

उन्होंने कहा—आज आपको कुछ नई बातें बतलाऊँगा। ऐसी बातें, जिनको सुनने के लिए आप अनेक वर्षों से उत्सुक रहे हैं; पर कुछ मतभेद रखने के कारण आपने कभी उनकी चर्चा नहीं की—एक शब्द भी कभी उनके सम्बन्ध में नहीं पूछा। परन्तु क्या मैं इतना भी नहीं

समझता आया हूँ कि उस विषय में आप कैसी तटस्थता और उदासीनता व्यक्त करते रहे हैं ?

"ख़ैर, मुझे तो अब अपने-आप ही वे सब बातें आपसे कहनी हैं, जिसमें कम-से-कम मुझे समझने में आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें।

"मैं आज उन्हीं दिनों की बातें कहना चाहता हूँ जब मैंने आपको काश्मीर-यात्रा के बीच में ही—देहली से ही—बिदा कर दिया था। मैं असल में कमलिनी-फ़िल्म-कम्पनी की एक ऐक्ट्रेस से कुछ आकृष्ट हो गया था। वह अनुपम सुन्दरी थी, यह मैं नहीं कहता। लेकिन इतना कह सकता हूँ कि उसमें मृदुल हास्य, चारु चितवन और अजस्र चञ्चल अनङ्गलतिका-सा मोहक मार्दव तो था ही। ख़ैर, अधिक कहूँगा तो तुम कहोगे कि यह गद्य-काव्य रहने दो। इतना तो आप जान ही लीजिए कि एक असाधारण सौन्दर्य तो उसमें था ही। यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है। मैं चाहता था कि उस फ़िल्म-कम्पनी में पहुँचकर मैं उसे निकट से देख सकूँ। मैं यह बात आपसे शपथ-पूर्वक कहता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरा और कोई भाव न था। दुनिया चाहे जो समझती रहे, लेकिन तुम तो मुझे ठीक-ठीक समझ लो। इसी लिए मैं ये सब बातें स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ।

"ऐसा मैं केवल अपनी अनुभूति की पूर्णता के लिए चाहता था। अनेक बार मैं आपसे कह चुका हूँ कि जीवन के

पतन में पहुँचना तत्त्वदर्शी के लिए निन्द्य नहीं है, यदि वह सचमुच सत्य के अन्वेषण के लिए वहाँ पहुँच ही जाय। तत्त्वदर्शी के लिए यह अनिवार्य है, यह मैं नहीं कहता। परन्तु यदि वह वहाँ पहुँच ही जाय, तो उसकी यह गति अधम नहीं है; क्योंकि उसमें पाप की प्रेरणा मुख्य नहीं है, प्रेरक नहीं है, उद्देश्य नहीं है। एक बात यह भी है कि वह वहाँ पहुँच तो जायगा; पर टिकेगा नहीं, टिक सकेगा ही नहीं। वह उचककर चलता बनेगा, उसी में चिपक न जायगा। वह तो 'रमता जोगी' होता है; उसे कोई टिका ही कैसे सकता है।

"हाँ, तो उसका नाम था 'तारा।'

तारा कुछ ही दिनों में यह चाहने लगी थी कि मैं उसका हो जाऊँ। परन्तु मैं तो कुछ और हूँ। तुम जानते ही हो। जब अधिक घनिष्ठता बढ़ने लगी; तो मैंने देखा, उसमें हठवाद स्थान ले रहा है। दिन-दिनभर खाना रखा रहता; मेरी प्रतीक्षा में वह बैठी रहती। मैंने उसे बहुत-कुछ समझाने की चेष्टा की; परन्तु उसने न माना। एक दिन उसने कहा—तो तुम यही चाहते हो कि मैं मर जाऊँ?

मैंने कहा—मैं?—और ऐसा चाह सकता हूँ!!

वह बोली—तो फिर मानते क्यों नहीं मेरी बात।

"मैं कैसे मानूँ, मैं बन्दी जो हूँ; एक को अपनी आत्मा दे चुका हूँ।" मैंने कहा।

"तब उसने आँसू टपकाते हुए कहा—मैं नारी हूँ।

व्यथा की व्यथा को भी सहन कर लूँगी। लेकिन वे जो एक अन्तर्यामी हैं, जब यह जान पायेंगे कि तुमने किसी को इतना व्यथित किया है, तब तुमको वे ख़ूब समझेंगे! इतना मैं कहे देती हूँ।

"इसके पश्चात् उसने उस नौकरी को त्याग दिया।

"वह बम्बई की एक कन्या-पाठशाला में अध्यापिका का काम करने लगी। पहले डेढ़ हज़ार रुपये पाती थी, अब तीस रुपये लेकर रहती है! कई बार उसके यहाँ गया हूँ; लेकिन दो-चार मिनट से अधिक उसके निकट बैठकर उससे बातें कर नहीं सका। अदमनीय लावण्य जिसकी मांसल देह-राशि में पुकार-पुकारकर हिलोरें मारता था; आज देखता हूँ, उसकी अस्थियाँ अन्तःपुर त्यागकर बाहर निकल आई हैं! खादी की एक मोटी साड़ी ही उसके शरीर का एक-मात्र परिधान है! वह चपलता न जाने कहाँ चली गई है! पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उसे तपश्चर्या ने बहुत ऊँचे उठा दिया है!

"उस दिन जब उसके यहाँ पहुँचा, तो देखते ही उसने कहा—तुम तो कह गये थे, अब कभी नहीं आयेंगे; फिर क्यों आये?

मैंने लज्जा से गड़कर कहा—जी न माना, चला आया।

"वही तो पूछती हूँ, क्यों चले आये?"

"तुमको देखने के लिए।"

"मुझको देखने के लिए?—मुझको!!"

"हाँ, तुमको।"

"देख लिया?"

"हाँ, देख लिया।"

"और भी कुछ देखना है?"

मैंने कहा—जो कुछ देखना चाहता था, वह अब है कहाँ? वह तो चला गया। अब जो कुछ देखता हूँ, वह तो और ही कुछ है। और वह जो कुछ है, उसी को सदा देखना चाहता हूँ।

वह अब रोने लगी। उसी रुदन के स्वर में उसने कहा—"तुम तो कह गये थे, अब कभी नहीं आयेंगे। फिर भी तुम आते हो? तुम अब काहे को आते हो भला? अब तुम न आया करो। ऐं-हुँ-हूँ!!!"

अब वह सिसकियाँ भर-भरकर रो उठी।

मैं वहाँ और ठहर न सका।

*　　　*　　　*

अब राजीव बाबू कहने लगे—परन्तु तुमने अभी तक शायद यह न जान पाया होगा, यह तारा कौन थी?

स्वप्नमयी

(१)

पच्चीस मार्च का वह दिन भी अपना एक विचित्र इतिहास रखता है। रौनक़-महल-थिएटर से सिनेमा देखकर बाहर आनेवाले दर्शकों की अपार भीड़ जब धरमतल्ला स्ट्रीट पर आकर छटने लगी, लोग इधर-उधर जाने लगे, तो मैंने देखा, हम लोग भी किसी के पीछे-पीछे चल रहे हैं। मेरे साथ थे मेरे सखा मिस्टर प्रेमांकुर भल्ले। इकहरा बदन, गोरा चमकता हुआ क्लीन-शेव्ड मुख, आँखें लुभानेवाली, जिन पर काले मोटे फ्रेम का चश्मा चढ़ा हुआ। बड़े विनोदी स्वभाव के, बातें करते हुए सदा हँसते ही रहने के अभ्यासी।

वह मेरे आगे-आगे चल रहा था। मैं पीछे था। एक खंभे के पास चलते हुए मैं फ़ुट-पाथ पर एकाएक रुककर सिगरेट-लाइटर से जो सिगरेट सुलगाने लगा, तो मिस्टर प्रेम ज़रा आगे हो गये। एक कश लेकर मैंने कहा—

"ओ प्रेम, प्रेम, अरे ओ मिस्टर प्रेम, ज़रा ठहरो।"

मेरा इतना कहना था कि (शायद मेरे 'प्रेम' संबोधन से आकृष्ट होकर) एक और मृगाक्षी ज़रा घूमकर मेरी ओर देखने लगी। गदराये यौवन की बगिया है, शरमीली

पर पास उनके पास था कहाँ, जो वे देते। बेचारे अप्रतिभ हो गये।

तब गेट-कीपर बोला—"तो फिर खिसकिये यहाँ से !"

मुझसे यह दृश्य देखा न गया। मैंने आगे बढ़कर कहा—"इस तरह ज़लील क्यों करते हो ? यह तो बहुत बुरी बात है। मैं पीछे आ ही रहा था।...पास यह लीजिए।"

विस्मय और उल्लास से ओत-प्रोत होकर उन्होंने और 'उन्होंने' भी एक बार मुझे देखा। किंतु उस स्थल पर और अधिक देखादेखी का अवसर कहाँ था ! हम सब लोग, बात-की-बात में, भीतर जाकर अपनी-अपनी सीट्स ग्रहण करने लगे।

उन्होंने बैठते ही कहा—बड़ी बद-इंतिज़ामी है। कोई अगर फ़र्स्ट-सेकंड-क्लास में बैठना हो चाहे, तो आज यहाँ से बैरंग जाय ! परन्तु आपने ऐन वक्त पर मेरी रक्षा की। आपका यह सौजन्य मैं कभी भूल नहीं सकता।

मैंने कहा—सौभाग्य की बात है कि मैं आपके किसी काम आ सका। आप तो जगन्नाथ-घाट-रोड पर रहते हैं ?

वह महाशय बोले—लेकिन मैं आपका परिचय न पा सका !

"ये कई पत्रों के इस नगर के, करस्पांडेंट और रिप्रज़ंटेटिव हैं। इनका नाम है नलिनीमोहन। ५७, अपर चीतपुर रोड पर रहते हैं।" प्रेमांकुर ने झट से कह दिया।

"और ये मेरे मित्र मिस्टर प्रेमांकुर भल्ले हैं। लाहौर में ज्वेलरी की इनकी एक बड़ी दूकान है। यहाँ अपने इसी व्यवसाय के सिलसिले में आये हुए हैं।" मैंने बतलाया।

वे बोले—मैं आप लोगों का अनुग्रह और परिचय पाकर बड़ा कृतज्ञ हुआ। मैं भी यहाँ इलाहाबाद-बैंक में असिस्टेंट एकाउंटेंट हूँ। आपने शायद वहीं मुझे देखा भी होगा। लेकिन आपको मेरे घर का पता कैसे चला?

मैंने कहा—पिछले सप्ताह, एक दिन जब आप रात को दस बजे के लगभग कहीं से घूमकर आये थे, तब आपको घर जाते हुए, इसी रोड पर, मैंने देखा था। संयोग से मैं भी उस दिन कुछ दूर तक आपके पीछे-पीछे आ रहा था। आपके मकान से कुछ दूर एक प्रोफ़ेसर साहब रहते हैं, उन्हीं के यहाँ मुझे आना था।"

इसके पश्चात् एकाएक हॉल में अंधकार छा गया। प्ले प्रारम्भ हो गया। मैंने चित्रपट पर अपनी दृष्टि स्थिर कर ली। वाटिका और उद्यान, झरने और सरिताएँ, वासना और प्रेम, कोकिल-कण्ठों और वन-विहार देख-देखकर मैं सोचने लगा—आह! यदि संसार का आंतरिक रूप भी ऐसा ही मनोरम होता! पर वहाँ तो निरन्तर मिथ्यावाद, छल-कपट, छीना-झपटी और ज़ोर-ज़ुल्म ही सर्वत्र देख पड़ता है। यद्यपि यहाँ भी ये सब दृश्य दिखलाई देते हैं, पर यहाँ तो उन सब पर कला और सौन्दर्य की छत्र-छाया है।

वे लक्षाधिक दीन-हीन भिक्षुक, मज़दूर और किसान, जिनके दिवस केवल दो-एक बार चने चाबकर व्यतीत होते हों और जिनके नन्हें बच्चे बिना दूध और औषध के काल के गाल बन रहे हों; उन दरिद्र जनों के जीवन का इस कला और सौन्दर्य से सम्बन्ध ? ये चित्रपट उनके लिए भी कुछ कर सकेंगे ?

मेरे अंतराल में एक अग्नि सुलगने लगी। और तब यही सब सोचते-सोचते मैं वहाँ से उठकर चल देने को उद्यत हो गया। मैंने कहा—प्रेमांकुर, मेरी तो इस समय यहाँ तबीअत नहीं लग रही है। कुछ ऐसी बातें मेरे मन में आ रही हैं; जिनके कारण मैं अब घर चला जाना चाहता हूँ। लेकिन तुमको यहाँ रहना पड़ेगा। आवश्यक काम न होता, तो मैं इस प्ले को देखकर ही जाता। मेरी बात समझ रहे हो न ? मैं अब जा रहा हूँ।

इतना कहकर मैं उठकर खड़ा हो गया। अपने उन नव-परिचित मित्र से मैंने कहा—मैं तो अब चलता हूँ। मुझे एक आवश्यक काम है। मैं तो केवल प्रोप्राइटर्स के संतोष के लिए चला आया था।

उन्होंने कहा—तो किसी दिन मेरी कुटी पर भी अपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ कीजिएगा। मकान तो आप जानते ही हैं। बल्कि अच्छा होगा, यदि आप अगले रविवार को आने की कृपा करें।

मैंने कहा—अच्छा, आऊँगा।

प्रेमांकुर बोला—मैं ऐसा जानता, तो आपके साथ कभी न आता।

"लेकिन मैं करूँ, तो क्या करूँ, मेरा चित्त जो अस्थिर हो गया है। मुझे क्षमा करो प्रेम, मैं अपनी इस प्रकृति के कारण बहुत विवश हूँ।" कहते हुए झट से मैं अपने मकान को चला आया।

(३)

प्रेमांकुर लाहौर चला गया था। मैं अब अकेला ही अपने उन नव-परिचित मित्र के यहाँ गया। उनका नाम था रजनी-रंजन, और उनकी उस बहन का नलिनी। बड़े आदर के साथ उन्होंने मेरा स्वागत किया। रसना-लिप्सा के नाना प्रकार के पदार्थ उन्होंने मुझे बड़े प्रेम से खिलाये। अंत में रजनी बाबू ने नलिनी से वॉयलिन पर अपना एक गायन सुनाने का आग्रह किया।

नलिनी शरमा गई। जान पड़ा, वह आज ही इतना अधिक परिचय—नहीं, घनिष्ठता—बढ़ाने को तैयार न थी। किन्तु रजनी बाबू किसी तरह न माने। बोले—तू देखती नहीं नलिनी, आख़िर ये हैं कौन? ऐसे सज्जन पुरुष से मित्रता होना कितने सौभाग्य की बात है।

अब नलिनी विवश हो गई। वॉयलिन उठाकर उसने गाना प्रारम्भ कर दिया। बड़ी देर तक उसका वह सलोना और मधुर गायन मैं आत्म-विभोर होकर सुनता रहा। अंत में

जब मैं चलने लगा, तो रजनी बाबू ने पूछा—अब आपका दर्शन करने के लिए हम लोग किसी दिन फिर आयँगे।

मैंने उत्तर दिया—परन्तु यदि आप अपने आने की सूचना मुझे पहले से दे देंगे, तो अधिक अच्छा होगा।

उन्होंने कहा—अच्छा, ऐसा ही करेंगे।

मैं चला आया। चलते समय नलिनी ने भी मुझे नमस्कार किया।

कुछ-कुछ मुस्कराहट, कुछ-कुछ लज्जा और अभिनव आह्लाद के अन्य भावों से मिश्रित उसका वह नमस्कार मुझे बहुत दिन तक नहीं भूला।

(४)

प्रेमांकुर का पत्र आया था। उसमें लिखा था—

"प्रिय मोहन बाबू,

उस दिन जब तुम चले गये, तब तो मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ था। परन्तु अब सोचता हूँ, तुम्हारा उठ आना उचित ही था। तुम्हारी जिस गंभीरता को मैं कोसता रहता हूँ, उसमें सचमुच एक धधकती हुई भट्ठी सुलगा करती है। मैं सोच नहीं पाता, स्वदेश की गंभीर समस्याओं के प्रति तुम्हारा यह सजग भाव कितना उद्दाम है! हम लोगों में तुम्हीं तो एक ऐसे असमाधान्य वीरात्मा हो, जिसके पीछे-पीछे चलनेवाले हम लोग दौड़कर भी उसे पाते नहीं।

उनके यहाँ गये थे ? कोई नई बात तो नहीं है ?

तुम्हारा 'प्रेम'

भला, प्रेमांकुर की इस चिट्ठी में क्या था ? तो भी जब केस चला, तो प्रेमांकुर भी हमारा साथी बनाया गया। प्रेम के इसी पत्र ने उसे भी घर दबोचा। वैसे मैं ऐसी चिट्ठियाँ रखता नहीं था। उस दिन संयोग से एक पुस्तक के भीतर पड़ी रह गई।

केस के सिलसिले में जब मैं...भेजा जाने लगा, तो बात-की-बात में यह संवाद कलकत्ता-भर में फैल गया। हावड़ा-स्टेशन पर कुछ लोग मुझे देखने के लिए आ गये थे। "साम्यवाद की जय" के गगन-भेदी स्वरों के साथ जब मेरे नाम को लेकर 'जय' का निर्घोष हो उठा, तो मैंने देखा, इस 'नारे' का चालक एक रमणी-कंठ है।

"अरे ! तो तुम नलिनी हो !" उसे देखकर मैं कुछ क्षणों तक सोचता रहा।

(५)

दो वर्ष बाद—

उस जेल की जिस बारिक में मैं रक्खा गया था, उसका पृष्ठ भाग जेलर साहब के निवास-स्थान के निकट पड़ता था। दिन मस्ती के साथ कट रहे थे। प्रातःकाल होते ही वॉयलिन के मीठे स्वर कानों में अमृत घोल-घोलकर चले जाते थे।

एक दिन की बात है। यद्यपि साधारण दिनों की भाँति ही वह एक दिन था, तो भी उस दिन एक गायन मुझे बड़ा प्रिय मालूम हुआ। प्रणयेश कवि ने उसमें यों भी प्रणय का आसव कम नहीं घोला; फिर भी उस गान का गायक स्वर-लहरी के वेश में ऐसा जान पड़ा, मानो कभी का परिचित है। इसी लिए वह मुझे और भी प्यारा प्रतीत हुआ।

हाँ, तो उसने गाया—

आँख-मिचौनी खेलोगे ?

मैं इसका उत्तर कैसे दूँ! मैं यहाँ इतनी ऊँची, सुदृढ़ दीवारों के अंतर में जो हूँ! नहीं तो बतलाता कि "ना रानी, यह सौदा मेरे लिए इस समय बड़ा कष्ट-कर है।"

वह और आगे बढ़ी। उसने कहा—

परम अचंचल! —

क्या चंचल गति, तितली ही की ले लोगे ?

बस भाई, इतना सुनना था कि मैं जान गया—तुम वही हो, वही! लेकिन तुम यहाँ आईं कैसे? तुम तो कलकत्ते में थीं न? तब याद आया, तुम उस समय कुमारी थीं। अब यहाँ शायद जेलर साहब की पुत्र-वधू होकर आई हो! अच्छा, तो यह बात है!!

गाना और भी आगे चलता रहा। परन्तु जब कोई ध्यान से सुने, तब न।

उस दिन का भोजन अच्छा नहीं लगा, रात को नींद नहीं आई। लेकिन काल की गति में कोई अंतर कैसे पड़ता! फिर उषा का आगमन हुआ। फिर वाँयलिन के मोठे स्वरों में मिश्रित वे शब्द! वही मृदुल मादक गायन!!—

"आँख-मिचौनी खेलोगे ?"

"हाँ, आज खेलूँगा रानी! तुमसे न खेलूँगा तो और जाऊँगा कहाँ? मन-ही-मन कहते हुए सोचने लगा—दो हृदयों की गति में यदि बेतार का तार अनायास चल सकता, और काश, मेरा यह ढिठाई में सना हुआ उत्तर उस तक पहुँच सकता!

आह! तूने यह आगे क्या कह डाला—

"लता-ओट मे अंग छिपाना,
रंग-बिरंगे ढंग बनाना,
कभी - कभी निज दाँव बचाकर
सम्मुख होकर आना - जाना।
कब तक सरस-कुतूहल में यों
अथक परिश्रम झेलोगे ?
आँख-मिचौनी खेलोगे ?"

मन मारे दिन-भर बैठा रहा। कोई काम नहीं कर सका। कल ही से कलेजे में यह भट्ठी जो सुलगा ली है!

मुझे ज्वर आ गया था। जेलर साहब, सुपरिंटेंडेंट और डॉक्टर—सब आये, देख गये! और, अंत में मुझे हॉस्पिटल की शरण लेनी पड़ी।

हाय! तब सोचने लगा—"तुम यह कर क्या बैठे!—वे मीठे स्वर सुनने से भी वंचित हो गये!"

(६)

कई दिनों से बीमार पड़ा था।

एक दिन वह अपने 'उनके' साथ मुझे हॉस्पिटल में देखने आ पहुँची। वे उस नगर में एक हाईस्कूल के हेड-मास्टर हैं। लोग उन्हें सान्याल बाबू कहते हैं। बड़ी देर तक वे मेरे निकट बैठे रहे। इधर-उधर की बातों के पश्चात् बोले—तो आप इस देश में भी साम्यवाद का स्वप्न देखते हैं।

मेरे मुँह से निकल गया—हाँ मास्टर साहब, हम लोग स्वप्न देखने में ही अधिक विश्वास रखते हैं। जिस दिन हमने इस जगत् को देखा, हम बहुत छोटे-से थे। एक फुट का शरीर ठहरा। छोटी-छोटी आँखों से हमने जो अपने चारों ओर देखा, तो ऐसा जान पड़ा, जैसे यह सब स्वप्न है। फिर वहीं उस दिन का स्वप्न उत्तरोत्तर सजीव होता गया। जो कुछ भी मैं देखता गया, सब-का-सब यथार्थ

प्रतीत होने लगा। ऐसा ही यह स्वप्न भी है। यह जगत् स्वप्न है, हम और आप भी स्वप्न हैं।"

वे बोले—"अब आप दूसरी ओर जा पहुँचे। मैं व्यावहारिक जगत् की बात कहता हूँ। पर आप तो फ़िलॉसॉफ़िकल लैंग्वेज में यह सब कह रहे हैं।"

"आप चाहे जैसा समझें, आपकी इच्छा। मैंने कहा—जान पड़ता है, आप व्यवहारवादी हैं। जो कुछ भी आप सोचते हैं, वह केवल इस दृष्टि से कि वह व्यवहार में आ सकेगा कि नहीं। और, तब आप जिस बात को व्यवहार्य समझते हैं, उसी को स्थिर मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि आपने जिस बात को व्यवहार्य समझकर उसे व्यवहार में लाने का निश्चय किया है, यदि संयोगवश, वही बात आपके द्वारा भविष्य में व्यवहार में न लाई जा सकी, तो वह बात भी अव्यवहार्य सिद्ध हुई कि नहीं! और जब आप इतना मान लेंगे, तो आपको यह भी मानना ही पड़ेगा कि प्रारम्भ में सभी बातें अव्यवहार्य होती हैं।...हम लोग सिद्धांतवादी हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हम प्रत्येक सिद्धांत को 'केवल कहने-भर का' रख छोड़ने के पक्षपाती हैं। हम भी मानते और सोचते उसी बात को हैं, जिसको हम मानव-कल्पना और मानव-सामर्थ्य में सीमित समझते हैं। और, हमारा यह विश्वास है कि आज जिन बातों को आप

स्वप्नवत् समझते हैं, वही एक दिन दृश्य-रूप में आपके सामने होगा।"

इस समय नलिनी जैसे खिल उठी। जान पड़ा, वह सोचने लगी हो—"खूब पराजित किया तुमने इनको।"

वे तुरंत बोल उठे—लेकिन हमारे देश में अभी ऐसी स्पिरिट कहाँ है? हम अभी पीछे कितने हैं? आपके विचारों का मैं आदर करता हूँ। परन्तु इतना तो आपको भी मानना ही पड़ेगा कि आप लोग समय से बहुत आगे चल देने के कारण ही इतनी दिक्कतें उठाते हैं।

"इस बात को सोचने, इस पर अपनी व्यवस्था देने, के वास्तव में, क्या हम अधिकारी हैं? हम होते कौन हैं इसका निर्णय करनेवाले? एडवेंचर सदा एडवेंचर ही रहता है। आज यदि हम सफल हो जाते हैं, तो हमीं वीर और महापुरुष हैं; और गिरते हैं, फँसते हैं और बलि होते हैं, तो हमीं असफल, लड़ाके, नासमझ छोकरे, अराजक और विद्रोही कहलाते हैं। दुनिया का यही ढंग है।"

"आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आपकी बातों से मेरी तो विचार-धारा ही विकृत हो गई।"

अब मुझसे रहा नहीं गया। मेरे हृदय के कपाट-से खुल गये। मैंने कहा—हम तो पागल ठहरे, हमारी बातों में संयम नहीं, विवेक-बुद्धि नहीं। हम अदूरदर्शी कहलाते हैं। आप लोगों की दुनिया हमें छोकरा समझती है। ऐसी दशा

में आप लोगों में से किसी भी एक व्यक्ति की प्रसन्नता और अप्रसन्नता हमारे लिए एक-सा है। जो लोग हमसे प्रेम से बोल देते हैं, वे भी हमें कुछ-न-कुछ कष्ट हो दे जाते हैं। क्योंकि थोड़ी देर के लिए हम भ्रम में पड़ जाते हैं। हम सोचने लगते हैं—हमारी भी एक दुनिया है। हमारे भी कोई आत्मीय स्वजन हैं। दुनियाँ की नज़रों में हम हृदय-हीन ही समझे जाते हैं न! हमारे न हृदय है, और न उसमें कहीं माता-पिता, भाई, मित्र, पत्नी, प्रेमिका, बहन और बच्चों का स्नेह! हम तो संगदिल ठहरे न!

हमारा इतना कहना था कि—

अरे! यह हुआ क्या? नलिनी की आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे, और सान्याल बाबू की आँखें भी भर आईं।

अब मैंने कहा—मुझे दुःख है कि यह अप्रिय प्रसंग मैंने आप लोगों के सम्मुख उपस्थित कर दिया।

वे आँसू पोंछते हुए बोले—यही सब सुनने के लिए तो हम लोग आये ही थे।

फिर कुछ क्षणों तक हम सब मौन रहे। तदनन्तर मौन भंग करते हुए वे बोले—इसको आप पहचानते हैं न? (उन्होंने नलिनी की ओर संकेत कर दिया।)

मैंने कहा—हाँ, कुछ-कुछ।

मेरे इतना कहते ही नलिनी कुछ अप्रतिभ हो गई। प्रतीत

हुआ, मेरे 'कुछ-कुछ' शब्द उसे कुछ अप्रिय लगे। तब मैंने स्पष्ट रूप से कहा—कुछ-कुछ शब्दों का प्रयोग मैं इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोगों में कभी वार्तालाप होने का अवसर नहीं आया। यद्यपि रजनी बाबू ने एक दिन जब मुझे अपने घर पर आमंत्रित किया था, तब अंत में उन्होंने वॉयलिन पर एक गायन इनसे भी सुनवाया था। उस समय वह मुझे बहुत ही अधिक प्रीतिकर हुआ था।"

तब वे हँसते हुए, उसकी ओर देखकर बोले—लेकिन तुमने मुझे कभी वैसा प्रीतिकर गायन नहीं सुनाया।

अपना मोहक, मंद हास बिखराती हुई नलिनी बोली—आप उस तरह फ्री फेमिली-पास लाकर मुझे कभी सिनेमा भी तो नहीं दिखलाते!

(७)

कुछ महीनों के बाद फिर एक दिन मास्टर साहब अकस्मात् मुझसे मिलने आ पहुँचे। बेचारे बड़े उदास थे। मैंने पूछा—कहिए मास्टर साहब, क्या बात है? आप तो आज बहुत उदास-से दिखाई पड़ते हैं।

वे बोले—क्या बतलाऊँ मोहन बाबू, जिसे मैंने कभी सोचा न था, बल्कि जिसे मैं कभी सोच तक नहीं सकता था, वही हो गया।

इन शब्दों को वे जब कह रहे थे, तब मैं उनकी ओर

इकटक देख रहा था। इसके बाद वे तो सिसकियाँ भर-भरकर रो पड़े।

मैं घबरा गया। मैंने पूछा—आखिर हुआ क्या मास्टर साहब। अरे, कुछ तो बतलाइए।

उन्होंने कुछ मिनटों के बाद, कुछ ठहरकर, कहा—"नलिनी!—नलिनी!!" और वे फिर फूट-फूटकर रो पड़े।

मैं समझ गया—जान पड़ता है, उसका स्वर्गवास हो गया।

जी भरकर रो लेने के बाद वे जब कुछ स्थिर हुए, तो बोले—"उसने अपने जीवन की एक-एक, ज़रा-ज़रा-सी बातें मुझे बतलाई थीं। आह! उसका हृदय कितना निर्मल था। आप शायद आश्चर्य करेंगे लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वह आपका बड़ा आदर करती थी, उसके हृदय में आपके लिए स्थान था। जितने दिन भी वह यहाँ रही, बड़े दु:ख के साथ रही। जेल के नियम ही ऐसे कठोर हैं कि हम लोग चाहते हुए भी किसी पोलिटिकल प्रिज़नर के साथ सक्रिय सहानुभूति नहीं रख सकते। ऐसी दशा में हम कर ही क्या सकते हैं। वह रात को सोते-सोते चौंक-चौंक पड़ती थी। कह उठती थी—'हम लोग मसहरी लगाकर सोते हैं, और मोहन बाबू पर इस समय क्या बीत रही होगी! जिस वीर पुरुष को पाकर कोई भी राष्ट्र उसे महामंत्री बना-

कर गौरवशाली हो सकता, वही आज मच्छड़ों का शिकार बन रहा है।'''मैं उसे रात-रात-भर करवटें ही बदलते पाता था। उसने कभी अपने हृदय के हाहाकार को मुझसे छिपाया नहीं।

"यहाँ से चले जाने के बाद, वहाँ अपने भाई के साथ, वह कुछ ही महीने तो रह ही सकी। सूचना पाकर मैं वहाँ पहुँच गया था। वह केवल तीन दिन बीमार रही, चौथे दिन प्रातःकाल उसका स्वर्गवास हो गया! मैं तीसरे दिन रात को पहुँच सका था। बस वही उसकी अंतिम रात थी। आपके लिए उसने कहा था—'उनसे कह देना, मेरे लिए दुखी न हों, अपने काम में बराबर संलग्न रहें। उनका स्वप्न एक-न-एक दिन पूरा अवश्य होगा। यह जीवन तो अब गया! मेरी उस अन्तर्यामी से यही प्रार्थना है कि वह मुझे भी अगले जीवन में उन्हीं की पथानुगामिनी बनाये।'......मेरे संबंध में भी उसने कुछ बातें की थीं। उसने कहा था—'तुमको अब यहाँ अच्छा न लगेगा। मेरी स्मृति तुमको बहुत कष्ट देगी। इससे तुम कुछ काल के लिए विदेशों की सैर कर आना। इस तरह तुम्हारा जी भी बहल जायगा और तुम्हारी विचार-धारा भी परिष्कृत हो जायगी। मेरे लिए दुखी न होना। समझ लेना, मैं तुम्हारी कोई थी ही नहीं। और सचमुच, मुझे पाकर तुमने जीवन के सुख का अनुभव ही क्या किया?"

अब उन्होंने फिर आँखों में आँसू भरकर कहा—अपने

हृदय की स्थिति का परिचय मैं आपको कैसे दूँ, मोहन बाबू! सोचता हूँ, वह मेरे लिए न सही, अरे, आप ही के लिए जीवित रहता!"

* * * *

अब?—

वही जेल है, और उसकी वही बारिक। जब रात्रि की नीरवता चिर-स्थिर हो जाती है, तो, अब भी कभी-कभी जैसे वाँयलिन में मिला हुआ वही मधुर, मादक गायन सुनाई देता है—"आँख-मिचौनी खेलोगे?" फिर कुछ देर बाद गायन तो रुक जाता है, पर किसी की कमल-नाल-सी मृदुल, शीतल उँगलियाँ पीछे से मेरी दोनों आँखों की पलकों पर आ जाती हैं। मैं चकित-विस्मित होकर उठ बैठता हूँ। देखता हूँ, चतुर्दिक् अंधकार-ही-अंधकार है! कहीं कोई भी नहीं है! जब कभी प्रेमांकुर भी जाग पड़ता है, तो पूछने लगता है—क्या हुआ मोहन बाबू?

मैं उसे कैसे बतलाऊँ, क्या हुआ?

शबनम

(१)

मैं समझता था, माधव यों ही मुझे बहलाने, इधर-उधर की गप लड़ाने के लिए बुला रहा है। इसलिए मैं सुनी-अनसुनी करके आगे चलता ही गया। पर उसने पीछे से झट आकर मेरा दुपट्टा काँधे पर से झटक लिया, और फिर आगे बढ़कर मुझे रोकते हुए कहा—कहाँ जा रहे हैं ऐसी धूप में? चलिए, ज़रा घर चलिए। कितने दिनों बाद आज आपके दर्शन हुए हैं!

मैंने कहा—ऐसे ही एक साधारण काम से जा रहा हूँ।

इस पर भी वह न माना, बोला—यह कैसे हो सकता है? जायँगे तो आप तब न, जब मैं आपको छोड़ सकूँगा। थोड़ी देर को तो मेरे यहाँ ठहरना ही पड़ेगा।"

अब मैं विवश हो गया। उसके यहाँ मुझे रुक ही जाना पड़ा।

माधव ने अभी हाल ही में अपना नया भवन बनवाया है। हम लोग जब दावत खाने गये थे, तब तो नीचे ही बैठाये गये थे। पर अब की बार वह मुझे अपने निजी कमरे में, जो तीसरी मंजिल पर है, लिवा ले गया।

सचमुच माधव का यह कमरा बड़ा सुंदर बना हुआ है। बड़े अच्छे-अच्छे महल मैंने देखे हैं। पर ऐसा हवादार, ऊपर से नयनाभिराम लता-पुष्पों से आच्छादित, भीतर से फ़रनीचर, पर्दों, चित्रों तथा मूर्तियों से ऐसा सुसज्जित कमरा देखने का सुअवसर, विशेष रूप से अपने किसी मित्र के यहाँ, मुझे अब तक न मिला था। एक स्प्रिंगदार इज़ी चेयर पर मुझे बिठलाकर उसने कहा—पहले थोड़ा-सा नाश्ता कर लीजिए, तब...।

मैंने कहा—अभी-अभी, मैं ठंढाई छानकर चला आ रहा हूँ।

वह बोला—वाह! एक-एक ग्यारह! पिस्ते की बरफ़ी तब तो और भी मज़ा देगी।

तब तक मैंने उसकी टेबिल पर रक्खी हुई डाक से एक मासिक पत्रिका उठा ली थी। मैं अभी उसके दस-बारह पन्ने ही उलट सका था कि सामने नाश्ते की तश्तरी उपस्थित हो गई।

मैं उसका सत्कार करने लगा।

(२)

अब माधव ने कहना शुरू किया। उसकी मुख-कान्ति मंद पड़ गई। भीतर का समस्त अवसाद मानों उसके मुख पर ही उतर आया हो। वह बोला—बिहारी बाबू, आज मैं आपको हँसाने, गुदगुदाने या गप लड़ाने के लिए नहीं ले

आया। आज का विषय पुरानी परिपाटी से नितांत भिन्न है।

"अच्छा!" मैंने साश्चर्य कहके कहा—तो बस, अब कह ही डालो।

उसने कहा—शायद आप अदृष्ट की सत्ता को मानते हैं। प्रत्येक विवेकशील पुरुष उसे मानता है। पर मैं नहीं मानता था। मेरा सदा से यही विश्वास रहा कि अपने जीवन का निर्माता मनुष्य स्वयमेव है। परन्तु अब मुझे पता चला कि एक शक्ति ऐसी भी है, जो मनुष्य की शक्ति ही नहीं, उसकी कल्पना से भी परे है।

"मेरा जीवन, आप जानते ही हैं, कितनी ग़रीबी में कटा है। प्रतिदिन मैं अपने मिल के दफ़्तर को आठ बजे चला जाता हूँ, फिर चार बजे वहाँ से लौट पाता हूँ। वेतन भी मुझे केवल चालीस रुपये मात्र मिलते हैं। घर में दो लड़कियाँ तथा एक लड़का है। लड़का पढ़ता है। लड़कियाँ व्याहने योग्य हुई हैं। आप सोच ही सकते हैं, इतनी क़लील तनख़्वाह में मेरा निर्वाह कैसे हो सकता है। परन्तु मैंने इतने ही में निर्वाह किया! कैसे किया, सो आप लोगों से छिपा भी नहीं रहा है! इतना सब होते हुए भी आज जो मैं इस भवन का स्वामी देख पड़ रहा हूँ, मेरी स्थिति में एकाएक जो यह परिवर्तन उपस्थित हो गया है, जिसे देखकर मेरे अभिन्न मित्रगण

चकित-विस्मित हैं, उसका रहस्य क्या है, शायद आप लोगों में से किसी को भी इसका ज्ञान नहीं है।"

मैंने कहा—शायद को बीच में व्यर्थ ही डाल रहे हो! सचमुच हम लोगों में से किसी को भी इसका पता नहीं है।

वह बोला—हाँ, मेरा भी ऐसा ही अनुमान है। खैर, आप, हरिकृष्ण टंडन, सुनीति बाबू—इन व्यक्तियों को छोड़ कर इस नगर में मेरा कोई सुहृद् नहीं है, यह तो आप अच्छी तरह जानते ही हैं। परन्तु एक और भी मेरा मित्र इसी नगर में रहता था। उसका निवास-स्थान यहाँ से कुछ दूर था। आपने 'प्रेमनगर'-मुहल्ले का नाम सुना होगा, वह वहीं रहता था। उसका नाम जानकर आप क्या करेंगे। कल्पित नाम समझ लें, हरिमाधव त्रिपाठी। वह इसी नगर में एक जगह पोस्ट-मास्टर था। वैसे मैं कृतज्ञ तो अपने सभी मित्रों का हूँ; परन्तु समय-समय पर उधार, बिना ब्याज के, आवश्यकतानुसार, रुपये देकर उसने मेरी इतनी अधिक और इतनी बार सहायता की कि उसका आभार मेरे जीवन के साथ मिल-सा गया है। निकट रहने के कारण आप सब मित्रों से तो नित्य ही भेंट होती रहती है; परन्तु ऐसे आत्मीय मित्र से मिलना, आवश्यक होते हुए भी, अधिक-से-अधिक सप्ताह में प्रायः दो बार ही होता रहा है। कभी-कभी जब मौक़ा न मिला, या कुछ काम न हुआ, तो कई-कई दिन तक उससे मिलना नहीं भी हो पाता

था। इसका कारण यही था कि वह ज़रा दूर रहता था। इधर उसका आना-जाना भी कम होता था; परन्तु इस ओर वह जब कभी आता, तो मेरे घर अवश्य आता।

उसने कहा—यह बात मैं अपने उस घर की बतला रहा हूँ, जिसमें मैं किराये पर रहता था। जिस समय वह मेरे घर आता, मेरी अवस्था कैसी दयनीय हो जाती थी; यह मैं ही जानता हूँ। समय-समय पर जिस मित्र ने मेरी इतनी अधिक सहायता की हो, उसका कुछ-न-कुछ तो सत्कार मुझे करना ही चाहिए, यही सोच-सोचकर, फिर साथ ही अपनी असमर्थता देखकर, मारे दुःख और आत्म-ग्लानि के मेरा हृदय पृथ्वी के नीचे कई हाथ तक जैसे धँस-सा जाता था।

"अपनी गृहिणी को आवाज़ देकर मैं कहता—अरे, पान-वान हों, तो दो बीड़े भेजना, त्रिपाठी जी आये हैं। पान घर में रहते, तब तो आ ही जाते थे; पर यदि न होते, और मैं बाज़ार से मँगवाने लगता, तो वह मुझे मना कर देता, मेरा हाथ पकड़ लेता और किसी प्रकार भी बाज़ार से पान नहीं मँगाने देता था। सोचो, जब पान मँगाने में यह दशा थी, तो बाज़ार से मिठाई आदि मँगाने पर वह सहमत कैसे हो सकता था?"

"प्रायः वह पूछा करता—आज घर में क्या खाने को बना है?' इस पर जब मैं कह देता—'दाल अरहर की, रोटी जौ और चने की।' बस, तो वह मेरी इस दयनीय दशा से

अस्थिर हो उठता। झट से दो रुपये अपनी जेब से निकाल कर सामने रख देता और कहता—'आज तो मैं दावत खाने आया हूँ। ये लो रुपये, कम-से-कम पाँच तरह के शाक, खीर और कचौड़ी बननी चाहिए।' मैं शर्मिन्दा हो उठता। मेरी आँखों के घोंसलों में पानी छलछला आता। वह मेरे अंतर के भावों की तह तक पहुँचकर कह देता—'रुपये भी तो ये उड़ाऊ-खाऊ खाते के ही हैं। घर से सिनेमा देखने के लिए निकला था, वहाँ नेत्रों को सुख मिलता, यहाँ रसना का सुख लूटूँगा। मित्रता का अभिनव-आनंद अलग।'

"मेरा वह ऐसा सहृदय मित्र था!"

(३)

"एक दिन की बात है। मैं त्रिपाठी जी के पास ही एक कुर्सी पर बैठा हुआ था। एक युवती धानी रंग का मखमली सलवार पहने, भीतर से ढीला कुरता और ऊपर से झीनी रेशमी चद्दर डाले हुए, बाहर कहीं से आकर पड़ोस के एक घर के अंदर चली गई। झीनी चद्दर के भीतर से उसके सघन, श्याम केशों की लंबी चोटी जब मेरे मानस-पट पर आकर स्थिर हो गई, तब मैंने सहज हँसी के मिस अपने उन मित्र से पूछा—त्रिपाठी जी, आप बड़े भाग्यशाली हैं, जो अपने पड़ोस में ऐसी शरच्चंद्रिकायें रखते हैं।

"वह पहले तो एकाएक मुस्किरा दिये। फिर बोले—'क्या आपको कोई देख पड़ी ?'"

"मैंने कहा—'शायद।'

"शायद नहीं, ठीक-ठीक कहो! शैतानी मत करो। बोलो, क्या वह इधर से निकली थी।"

"कौन ?" मैंने पूछा।

"उन्होंने कहा—'देखो, दुष्टता न करो, सच बताओ, क्या वह इधर से निकली थी ?'"

"मैंने जब कहा—'हाँ, आगे-आगे एक युवती थी, पीछे से एक और वृद्ध नारी।" तब कहीं उसको संतोष हुआ।

"मैंने पूछा—'यह है कौन, ज़रा इनका राज़ तो खोलो।'"

"अन्यमनस्क होकर उसने उत्तर दिया—'जानकर करोगे क्या ? और बात करो।'

"मैंने फिर इस प्रसंग को नहीं उठाया।

"त्रिपाठी जी के कोई पुत्र न था। केवल दो लड़कियाँ थीं, जिनके विवाह हो गये थे। स्त्री का स्वर्गवास हो चुका था। संतान होने के कारण उसने फिर दूसरा विवाह नहीं किया था। वह कहा करता था—विवाह करूँगा तो मेरी ये प्राण-पुतलियाँ अनाथ हो जायँगी। विमाता इनकी दुर्गति

कर डालेगी। और मैं ? मैं भी अपना विवेक खोकर उसके इशारों पर नाचने की मशीन हो जाऊँगा !'

"बहुत दिनों तक मेरी और उसकी मैत्री चली।

"वह संवत् १९८४ विक्रमी का शीतकाल था। तभी वह एकाएक बहुत बीमार पड़ गया। आदमी भेजकर उसने मुझे बुला भेजा। मैं जब आया, तो उसकी चेष्टा देखकर बड़ा दुखी हुआ। वह इतना दुर्बल हो गया था कि उससे उठा-बैठा तक नहीं जाता था। मैं जब उसके निकट बैठ गया, तो उसने कमरा बंद करवा दिया, जिसमें कोई आ-जा न सके। अब उसने कहा—'चाहता था कि आप कुछ और पहले आ जाते; परन्तु न आपको मालूम हुआ कि मैं बीमार हूँ, न मैं ही आपको सूचित कर सका।'

"इतना कहते-कहते उसकी साँस उखड़ आई।

"मैंने कहा—'ज़रा स्थिर हो लीजिए' तब इतमीनान से बात कीजिएगा।'

"उसने धीरे-धीरे, एक-एक शब्द अलग-अलग करके, कहा—'क्या...कहूँ...अब तो चला-चली का समय है।'

"मैंने कहा—'आप ऐसे निराश क्यों होते हैं ? शीघ्र अच्छे हो जायँगे। मैं आज डॉक्टर मल्लिक को ले आऊँगा। वे इस नगर के डॉक्टरों में सर्वश्रेष्ठ हैं।...आप जल्दीबाज़ी न कीजिए, जो कुछ भी कहना हो, स्वस्थचित्त होकर कहिएगा।'

"थोड़ी देर तक मैं बिलकुल चुप बैठा रहा। श्वास का वेग जब कुछ संयत हो गया, तब उसने कहा—'आज आपको कुछ ऐसी बातें बतलाऊँगा, जिन्हें सुनकर आप चकित होंगे, आनंदित होंगे और दुखी भी।'

"मैं सशंकित हो उठा। सोचने लगा—हो न हो, यह अपनी कुछ व्यक्तिगत बातें बतलायेंगे।"

(४)

"वह बोला—'तुम्हें याद होगा, एक दिन तुमने इस घर के पड़ोस में रहनेवाली एक युवती को देखकर मेरे भाग्य की सराहना की थी। इतना ही नहीं, तुमने उसका परिचय प्राप्त करने की भी आकांक्षा प्रकट की थी। पर उस समय मैंने तुम्हें इस विषय में कुछ भी बतलाना उचित नहीं समझा था।

"'जिस मकान में तुमने उसे जाते हुए देखा था, उसमें एक क़व्वाल रहता था। बड़ा सुरीला उसका कंठ था, मस्तानी अदा के साथ वह क़व्वाली गाता था। वह स्वरूपवान् भी साधारण न था, पर उसमें एक दोष था कि वह शराबी था। शायद आपने कभी उसकी क़व्वाली सुनी भी हो। पक्के रंग और एकहरे बदन का जवान था। आँखें इतनी बड़ी थीं कि बाहर निकली-सी देख पड़ती थीं। उसकी एक ही क़व्वाली से, बात-की-बात में, उसके चारों ओर भीड़ लग जाती थी।

"'"वह युवती उसकी पत्नी थी। उसका नाम था शबनम।

"मैं सचमुच चकित हो उठा। ऐसा सुंदर नाम!

"उसने कहा—'और जैसा सुंदर उसका नाम था, उसका रूप, उसकी छवि, उसका मनोहारी लावण्य और उसकी खिलखिल हँसी भी कम सुंदर नहीं थी। अब तुमसे छिपाऊँ क्या, बिहारी बाबू, वह मेरे जीवन की ज्योति थी—मेरी आत्मा की अमरता। वह हमीद (उसका स्वामी) जब क्रोध में आकर उसे पीटता, तो वह भागकर मेरे घर आ जाती। हमीद मेरा लिहाज़ करता था, मुझसे कुछ भी कहता न था। देर तक वह मेरे यहाँ बनी रहती, स्वस्थचित्त होकर फिर अपने घर लौट जाती।

"'"वह पवित्रता की मूर्ति थी। दूसरी कोई मुसलिम रमणी होती, तो तलाक़ देकर अलग हो जाती। उसके चाहकों की कमी थोड़े ही रहती। वह जिसकी ओर भी एक बार नज़र घुमा देती, वही अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझता।

"'"जब वह मेरे घर आती, तो जो कुछ भी उसका स्वागत-सत्कार मुझसे बन पड़ता, करता था। वह अपनी शरमीली चितवन से मेरी ओर देखकर जब कभी जल-पान या भोजन करती, तो मैं कृतार्थ हो जाता था। सच बात तो यह है बिहारी बाबू कि उसके मोहक रूप पर मैं पूर्ण आसक्त हो गया

था। धीरे-धीरे वह भी मुझ पर बड़ा विश्वास करने लगी थी। जब दो-चार बार ऐसा अवसर आ चुका, तो एक बार मैंने ही उसके आगे एक प्रस्ताव रख दिया। मैंने कहा—जब तुम हमीद से इतना तंग आ गई हो, तो उसे तलाक़ देकर छोड़ ही क्यों नहीं देतीं? क्या तुम सोचती हो कि इस प्रकार तुम आगे चलकर सुख-शांतिमय जीवन बिताने में सफल न हो सकोगी?

'''मेरा इतना कहना था कि उसके भीतर का दर्द सहस्र धाराओं से फूट निकला। उसने कहा—छिः त्रिपाठी जी, यह आप क्या कहते हैं? क्या मैं इसलिए रोती हूँ कि ये मुझे इतना मारते हैं, या मुझे बहुत तकलीफ़ देते हैं! नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं असल में रोती इसलिए हूँ कि ये इतनी शराब क्यों पीते हैं? इनको कौन सी कमी अपनी ज़िन्दगी में है, जिसके लिए इन्हें शराब की इमदाद लेने की ज़रूरत होती है। गुज़र करने-भर को काफ़ी दौलत हम लोगों के पास है, फिर यह इधर-उधर घूम-फिरकर क़व्वाली सुनाकर आप लोगों से क्यों रुपये ले आते हैं? इसकी क्या ज़रूरत है! इन्हें गाने का शौक़ है, तो शौक़ से गायें—शायरी का शौक़ है, तो शायर बनें। पर रहें तो बाइज़्ज़त।

इसके अलावा एक बात और है। शाम को जब ये घूमने को निकल जाते हैं, तब लौटते इतनी देर को हैं कि रात को बारह-एक बज जाते हैं। इधर मैं उस वक़्त सोई हुई रहती

हूँ—उधर ये शराब के नशे में बदहवास ! कुछ कहती हूँ, तो मेरी यह दुर्गति करते हैं ! मैं पूछती हूँ, जिन बाज़ारू कुतियों के यहाँ यह अपनी हस्ती मिटाने और अपनी असमत पर कालिख पुताने जाते हैं, वे क्या मुझसे ज़्यादा हसीन हैं ? मैं अफ़सोस इस बात पर करती हूँ कि ख़ुदा ने इनको इतनी भी समझ नहीं दी ! और तो सब कुछ दिया, सिर्फ़ इतनी-सी कमी क्यों रहने दी ! मेरा यह रोना बस उसी के आगे है।

'''अभी कुछ ही वर्ष हुए, हमीद का स्वर्गवास हो गया। शबनम अब अकेली पड़ गई। बहुत दिनों तक वह बहुत रंजीदा रही। दिन-रात रोती रहती। न वक़्त से खाना खाती, न कपड़े बदलती। मैंने उसे बहुत समझाया, पर उस पर मेरी बातों का कोई प्रभाव न पड़ता था। रोते-रोते कभी-कभी वह कह उठती—वह जैसे रहते थे, वैसे ही बने रहते; वह मुझे उसी तरह मारते-कूटते हुए मेरी इस ज़िन्दगी की नाव को किसी तरह खेते तो जाते !

'''आप ज़रा सोचें तो सही, अपने स्वामी के प्रति कैसी उद्दाम भक्ति उस रमणी में थी !

(५)

'''कुछ दिन और बीते।

'''तब तक मैं बीमार पड़ गया। शबनम रोज़ाना मेरे पास आती थी। एक दिन बातों-ही-बातों में वह मेरा हाथ पकड़कर नब्ज़ देखने लगी। उस समय भी मेरे शरीर में

ज्वर था। उसके सुकोमल कर-पल्लव का मृदुल स्पर्श पाकर मेरी सोई लालसा उद्दीप्त हो उठी।

'''मैंने कहा—तुम्हारा हाथ बड़ा ठंडा है शबनम!

'''उसने मुस्कराते हुए कहा—तो इसमें तअज्जुब की कौन-सी बात है?

'''मैं उसके इस उत्तर को पाकर सचमुच पराजय का अनुभव करने लगा। परन्तु फिर भी कुछ कहे बिना मुझसे रहा न गया।

'''मैंने कहा—हाँ, तअज्जुब की बात तो इसमें नहीं है; पर...।

'''आगे जो कुछ मैं कहना चाहता था, उसे कह न सका।

'''परन्तु तब उसने कह दिया—हाँ, कह डालिए, परन्तु...?

'''मैंने कहा—तो तुम उसे कह डालने की इजाज़त देती हो; क्यों?

'''इसमें इजाज़त देने-न-देने का सवाल ही नहीं उठता। यह तो आपकी तबीअत की बात है। उसने गम्भीर होकर कहा।

'''परन्तु तबीअत की बातें भी तो ऐसी हो सकती हैं, जिनके लिए किसी से इजाज़त लेने की ज़रूरत पड़ ही जाय।" मैंने कहा।

'''इस पर वह चुप रह गई।

'''और तब मैंने कह ही दिया—मैं चाहता था कि जब मैं मर जाता, तो ऐसे ही शीतल हाथ मेरी इति-क्रिया के काम आते।

'''शबनम ने आँसू भर लिये। बोली—तुम यह क्या कहते हो!

'''मैं भी दोनों हाथों से अपना मुँह ढककर रोने लगा। अब वह सँभल गई।

'''बोली—रोओ नहीं, इधर देखो, इधर।

'''मेरा शरीर रोमांचित हो उठा। मैं सोचने लगा, यह मुझे क्या दिखलाना चाहती है!

'''अपलक दृष्टि से मैं उसकी ओर देखने लगा।

'''उसने कहा—पंडित जी, औरत के भी दिल होता है। यह न समझो कि सिर्फ़ मर्द ही प्यार करना जानते हैं। मैं तुम्हारे मन की बात आज से नहीं, बहुत पहले से जानती थी। तिस पर भी मैं तुम पर भरोसा रखती थी। जानते हो, क्यों? इसलिए कि तुम एक औरत के दिल की इज़्ज़त करना जानते हो। देह का रिश्ता और चीज़ है, और दिल का रिश्ता दूसरी चीज़। दरअसल, दिल के रिश्ते के मुक़ाबले देह का रिश्ता कोई चीज़ नहीं है। लेकिन यह दुनिया दूसरे क़िस्म की है। यह तो देह के रिश्ते की क़ायल है। पर तुम तो इतने समझदार हो, तुम्हारे मुँह से यह बात निकली कैसे?

'''यह स्त्री है कि देवी, पंचतत्त्व-निर्मित एक स्थूल प्रतिमा-मात्र है कि ज्ञान की रश्मि। यह आख़िर है क्या? क्या यह वही शबनम है, जिसे हमीद मारकर घर से निकाल दिया करता था! क्या यह वही मुसलिम रमणी है, जो चाहे, तो तलाक़ के ज़रिए से एक नहीं, दर्जनों पुरुषों को ठगकर उन्हें ठुकरा सकती है!

'''मैंने कहा—तुम मुझे माफ़ करो शबनम, मैं तुमको अभी तक पहचान नहीं सका था। मैंने जो यह बात कह डाली, उसका एक सबब है। मेरी प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि मेरे दिल में कोई बात रहती नहीं। जो कुछ जी में आता है, उसे बाहर निकाले बिना मुझसे रहा नहीं जाता। यहाँ मेरा कौन अपना है, जिससे अपने जी की बात कहता। तुम सामने आ गईं, इसलिए तुम्हीं से जो कुछ जी में आया, कह डाला। तुम्हारे बाबत मैं पहले भी बहुत कुछ सोचा करता था। परन्तु वे अन्तर्यामी ही जानते हैं, कभी मेरे मन में इतने ज़ोर के साथ यह भाव पैदा हो नहीं हुआ था कि तुमसे कहता। इसके सिवा मैं यह भी सोचता था कि इस जीवन में तो मैं तुम्हें पा नहीं सका, शायद अगले जीवन में पा सकूँ! अब तुम्हीं सोच देखो शबनम, मेरी वह बात मेरे इस विचार से मिलती है कि नहीं!

'''वह बोली—यह मैं मानती हूँ, और तुम्हारे इस ऊँचे ख़याल की मैं क़ायल भी हूँ।

लेकिन...अरे ! इतना कहते-कहते वह तो रो पड़ी। सिसकियाँ भरते हुए उसने कहा—"लेकिन यह बात तुमने मुझसे पहले क्यों नहीं बतलाई ?

'"देखते-देखते वह अचेत होकर गिर पड़ी। फिर उसी दिन उसका देहांत हो गया।

'"उसका मन कितना कोमल था बिहारी !'"

अब माधव बाबू से मैंने कहा—"तुम्हारे उन मित्र की यह आत्म-कहानी तो वास्तव में बड़ी मार्मिक है। पर मकान बनने का भेद तो इससे खुला नहीं।"

* * *

उसने कहा—मरते समय शबनम अपनी सारी सम्पत्ति उन त्रिपाठी जी को ही दे गई थी। वह लगभग पाँच हज़ार रुपये की थी। मैं जब उस दिन वहाँ से चलने लगा, तो उन्होंने कहा—तुमको जिस मतलब से बुलाया था, वह तो रह ही गया। यह छः हज़ार रुपये का चेक लेते जाओ। इसमें पाँच हज़ार शबनम के हैं, और एक हज़ार मेरे। तुमने जीवन-भर कष्ट-ही-कष्ट भोगा है। इस रुपये से एक मकान बनवा लेना। इससे मेरी आत्मा को कुछ शांति मिलेगी।

गृहस्वामिनी

वह चली तो गई, लेकिन अपना प्रभाव, अपनी ज्योतिर्मयी स्मृतियाँ छोड़ गई।

क्या बताऊँ कैसी थी वह! अभी उसका छलकता हुआ यौवन था। उसकी रसभरी आँखों की कोर अभी तक, निरन्तर, आहतकारिणी ही बनी हुई थी। कौन जानता था कि इतनी जल्दी वह अपनी इहलीला समाप्त कर देगी!

आप मेरे आत्मीय हैं। इसी लिए आपसे आज मैं वह बात भी छिपाना नहीं चाहता, जिसे बहुत दिनों से अब तक हृदय के एक कोने में रख छोड़ा था। भला तुम्हीं सोचो, ये बातें भी किसी से कहने की होती हैं! लेकिन नहीं, आज मैं तुमसे उसकी बातें बताऊँगा—ज़रूर बताऊँगा। बिना बताये मैं रहूँगा कैसे!

आज कौन दिन है? शायद सोमवार है। हाँ, सोमवार ही है। वह दिन भी सोमवार ही था। मुहल्ले भर के भले आदमी एक-एक करके घर छोड़कर तितर-बितर हो गये थे। कॉलरा का इतना अधिक प्रकोप था कि तीन दिन के भीतर सैंतीस आदमी अपना शरीर त्याग चुके थे। मैं, आप जानते ही हैं, कितना निर्भीक आदमी हूँ। लेकिन

जब मैंने यह हाल देखा, तो, आपसे अब सच ही कहूँगा, मैं भी अस्थिर हो उठा। विवश होकर मुझे भी तुरन्त मकान त्याग ही देना पड़ा।

उस दिन मकान खोजते-खोजते शाम हो गई थी। बीबी और बच्चों को एक मित्र के यहाँ, शहर से दूर एक दूसरे मुहल्ले में, छोड़ आया था। बड़ी मुश्किल से एक मकान का पोर्शन दस रुपये महीने किराये पर मिला। जिस समय मैं मकान में पहुँचा, गृह-स्वामी एक चारपाई की पाटी पर सिर झुकाये हुए बड़े ज़ोर से खाँस रहे थे। उनकी आँखें गड्ढों में घुसी हुई थीं, चेहरे पर निर्जीवता की छाप थी। शरीर सूखकर लकड़ी हो गया था। मकान का पड़ोसी एक तमोली मुझे अन्दर ले गया था। उसी ने गृह-स्वामी के निकट खड़ा कर दिया। उन्हें देखते ही मेरे मुँह से निकल गया—अरे, आप तो सख़्त बीमार हैं।

गृहस्वामी ने एक बार मेरे मुँह की ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। तब तक तमोली कहने लगा—ये मकान चाहते हैं। इन्हें मकान दिखला दीजिए।

गृहस्वामी ने एक बार फिर खाँसा, एक बार फिर मेरी ओर देखा और अपनी गृहिणी की ओर लक्ष्य करके कहा—अरी कहाँ गई, ज़रा ताली तो फेंक देना, ये बाबू मकान देखेंगे। ...वैसे तो यह मकान ख़ाली कभी रहता नहीं था; पर इस बार किरायेदार ऐसे मिल गये कि कई महीने तक किराया अटका

रखते थे। इसी लिए...। अरे हाँ, मैं तो भाई खरा आदमी हूँ। पहली तारीख़ को किराया ज़रूर ले लेता हूँ। आप भी मुझे सज्जन आदमी मालूम पड़ते हैं। कितनी तनख़्वाह आप पाते हैं भला ?

मैंने बुड्ढे की बात-चीत का ढंग देखकर पहले ही समझ लिया था कि आदमी एक नंबर का चालाक है, ज़रा-सी भी कहीं कोई कोर कसर उसकी चतुरता में बाक़ी नहीं रह गई है। मनुष्य अपने जीवन को तृष्णा से कितना ओतप्रोत रखता है। "मेरा यह, मेरा वह !" हाय रे यह मेरा-तेरा !! यही तो मनुष्य के मन की काल-रात्रि है। लेकिन उस समय बुड्ढे की बातों का उत्तर मैंने उसकी वितृष्णा के अनुसार ही दिया। मैंने कहा—दादा मैं कहीं नौकर नहीं हूँ, मैं तो एक साधारण डॉक्टर हूँ।

बुड्ढा प्रसन्न होकर बोला—अच्छा तो आप डॉक्टर हैं ! हँ-हँ ! तब तो मेरे भाग्य बड़े प्रबल हैं।

तालियों का गुच्छा एक झनकार के साथ सामने आगया। जिन कमरों में हमारा संसार समाया रहता है, जहाँ हम हँसते-खेलते, गाते, इठलाते और भाँति-भाँति के रास-विलास, आनन्द-रुदन के अश्रु टपकाते हैं, लोह-निर्मित ये निर्जीव तालियाँ उनको निर्जन और नीरव बना देती हैं ! ये कोलाहल-निकेतन कितने निराश्रित और कैसे अभागे हैं ! जहाँ मानवात्मा के पावन उच्छ्वास सदा उन्मद राग गुंजित

करते हों, वहाँ का प्रवेश द्वार इन लोह-खण्डों पर निर्भर रक्खा गया है।

तमोली ने मकान खोलकर दिखला दिया। वह मुझे पसन्द भी आगया। एक रुपया पेशगी देकर मैंने वह मकान पक्का कर लिया। बस, उसी दिन यद्यपि रात हो गई थी, मैं उस मकान में सपरिवार आगया।

(२)

१९ दिन बाद—

रात अँधेरी थी, एकदम अँधेरी। आपको अँधेरी रातें पसन्द न आती होंगी। पर मुझे बहुत पसन्द हैं। चन्द्रदेव चाँदनी के द्वारा रजनी के प्रति क्या कुछ कम बलात्कार करते हैं? रजनी के आँगन में आलोक-रश्मियाँ यदि बलपूर्वक न आवें, तो यह रजनी ज़रा आराम के साथ, मीठी-मीठी नींद में, कुछ सो तो लिया करे। पर निशानाथजी इस रजनी को कितना नियंत्रित रखते हैं! आज दो घड़ी को आवेंगे, तो यह पहले से निश्चित कर जायँगे कि कल तीन घड़ी रहूँगा। भई वाह! अच्छे हैं तुम्हारे ये नियम बाबूजी! यदि रजनी कभी यह चाहे कि आप आज इतनी देर को आगये, सो आगये, पर अब कल एकदम न आइएगा, तो क्या उसकी यह बात वे मानेंगे! अरे राम कहो। वे कभी न मानेंगे।

हाँ, तो उस गृह-स्वामिनी का नाम भी रजनी ही था।

उस समय बारह न बजे थे, बजने ही वाले थे। मैं प्रगाढ़

निद्रा में लीन था। मुझे जगाती हुई मेरी पत्नी कहने लगी—अरे ज़रा उठो तो, देखो, गृहस्वामी कुछ अधिक बीमार हैं।

मैं एकाएक चौंक पड़ा! बोला—ऐं, क्या हुआ?

इसी समय मैंने देखा—दरवाज़े के निकट कोई मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। उठकर उसी ओर चल दिया। वह रजनी की छोटी बहिन थी। मुझे बुलाने आई थी।

गृह-स्वामी के निकट पहुँचकर मैंने उन्हें देखा। उनके गले में कफ अटक गया था। ज्वर साधारण था। मैंने कहा—घबड़ाने की तो बात नहीं थी। आगे मैं कहना चाहता था—व्यर्थ ही में मेरी नींद ख़राब की, लेकिन मैं रजनी की ओर देखकर यह बात कह न सका।

दवा देकर मैं चलने लगा तो रजनी बोली—क्षमा कीजिएगा, आपको इस समय मैंने बड़ा कष्ट दिया। यह कहते हुए वह मुझे चार रुपये देने लगी। डॉक्टर होकर मुझे अपनी फ़ीस के रुपये तुरन्त ले लेने चाहिए थे। पर जाने क्या बात हुई, मैंने रुपये लेने से इनकार कर दिया। मैंने कह दिया—फ़ीस लेने की बात यदि मेरे मन में आती, तो मैं इस समय किसी भी फ़ीस पर न आता। बस, इतना कह के मैं चल खड़ा हुआ। रजनी कुछ कहना चाहती थी, पर मैं तो सुनना नहीं चाहता था। सदा से इस सम्बन्ध में मैं सावधान रहता आया हूँ।

वह बोली—लेकिन—लेकिन अरे सुनिए तो···।

मैंने कहा—लेकिन-वेकिन कुछ नहीं।

सच पूछिए तो उसी दिन इस कहानी का जन्म हो गया था। जो व्यक्ति सदा से सावधान और सतर्क रहा हो, उससे इस तरह का आचरण हो ही क्यों गया, इसका मुझे भी आश्चर्य तो है ही, दुःख भी कम नहीं है। भला आप ही सोच देखिए, मैंने फ़ीस न लेकर कैसी ग़लती की थी!

अच्छा साहब, उस दिन कोई और विशेष बात नहीं हुई। हाँ, एक ज़रा-सी बात अवश्य हुई। और वह यह कि उस रात को फिर मुझे नींद नहीं आई। मैं यही सोचता रह गया कि चलो, जीवन में एक बार तो मैंने उदारता दिखला ही दी। लेकिन क्या सचमुच वह मेरी उदारता थी? नहीं भाई, इसे उदारता नहीं कहते—वह तो आत्म-वञ्चना थी।

मेरी एक कन्या थी। उसका नाम था करुणा। वह रजनी के घर बहुत आती जाती थी। रजनी उसे बहुत प्यार करती थी। वह उसे रोज़ ही मिठाइयाँ खिलाती और उससे नाना प्रकार की मीठी-मीठी स्नेह-भरी बातें किया करती। करुणा भी उसकी बातें सुन-सुनकर बड़ी प्रसन्न होती। मैं जब करुणा को खिलाने बैठता, तो वह दिनभर की सारी बातें मुझसे कह देती।

एक दिन मैंने करुणा से पूछा—आज दोपहर की गई हुई तू इस समय शाम को आई है। बोल तो, इतनी देर कहाँ रही?

करुणा बोली—चाची के यहाँ थी।

मैंने पूछा—दिन भर तू अपनी चाची के यहाँ ही बनी रहती है। क्या वे तुझे तेरी अम्मा से अधिक प्यार करती हैं?

करुणा चुप थी। और उसकी इस चुप्पी ही में उसका उत्तर भी सन्निहित था!

(३)

एक दिन मेरे घर खाना नहीं बना था। करुणा की माँ की तबीअत ख़राब थी। मैं चाहता, तो खाना बना लेता। पर मैंने बनाया ही नहीं; आलस कर गया। कुछ देर करुणा की माँ की चिकित्सा की व्यवस्था में लग गई। इसके बाद कुछ देर यों ही अन्यमनस्क होकर बैठा-बैठा कुछ सोचता रहा। करुणा दो बार मेरे पास आकर मुझसे कह गई—बाबू नहा तो लो। क्या आज नहाओगे भी नहीं? फिर पाइप चला जायगा।

मैंने कह दिया—नहा लूँगा। ऐसी जल्दी क्या है?

करुणा ने कहा—जल्दी क्यों नहीं है। फिर खाना ठण्डा पड़ जायगा।

मैं चौंक-सा पड़ा! सोचने लगा—ऐं! खाना ठण्डा पड़ जायगा......! मुझे, मेरी इस विवशता के समय भी, गरम-गरम खाना खिलानेवाला है कौन? देर तक मैं इसी उलझन में अपने आपको उलझाये रहा। करुणा मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ी ही रही। अन्त में मैंने कहा—आज मुझे भूख

भी तो नहीं है। जब खाना है ही नहीं, तो नहा कर क्या करूँगा !

उत्तर दे तो दिया; पर अपने इस उत्तर पर मैं स्वयम् लजा-सा गया। सोचने लगा, यदि मेरा कोई सहपाठी डॉक्टर मेरी ये बातें सुनता, तो मुझे क्या कहता !

करुणा लौट गई। मैं बैठा का बैठा ही रह गया। लेकिन अधिक देर तक मैं उस अवस्था में बैठा नहीं रह सका। करुणा की चाची ने ज़रा देर में आकर कहा—डॉक्टर साहब यह तो मैं जानती हूँ कि अब आपको भूख न होगी। दीदी की बीमारी ने आपकी भूख भी हरण कर ली है। पर मेरे रहते आप भला भूखे रहने भी पायेंगे। चलिए, उठिए तो ! वाह ! यह भी कोई बात है—आपको अगर भूख न लगेगी तो मैं भूख को लग जाऊँगी !

अब मैं बैठा न रह सका। मुझे उठना ही पड़ा। नहा धोकर मैं ज्यों ही तैयार हुआ त्यों ही खाना भी मेरे सामने आगया। भूख तो नहीं थी, पर मैं खा भरपेट गया ! अनेक बार अनेक स्थलों पर बड़े प्रेम के साथ आतिथ्य स्वीकार करने का सुअवसर मुझे मिल चुका है; पर उस दिन के उस भोजन की स्मृति अभी बिलकुल ताज़ी बनी हुई है।

खा चुकने पर करुणा की चाची ने कहा—मैं जानती हूँ, आपकी तृप्ति इस साधारण भोजन से आज न हुई होगी,

आप चिन्तित भी बहुत हैं। जब चिन्ता रहती है, तब खाना-पीना कुछ भी नहीं सुहाता।

मैंने कहा—सो तो ठीक है। पर देखता हूँ, इतना स्वादिष्ट खाना बनाने पर भी आप इसे साधारण भोजन कहते हुए ज़रा भी संकोच नहीं करतीं। झूठ भी इतना बोलो, जितना वातावरण में लीन हो सके, समा सके। पर आप तो एकदम से ऐसा परिष्कृत झूठ बोलती हैं!

मेरे इस कथन पर वह हँसने लगी। बोली—आपकी आलोचना चाहे यथार्थ न भी हो, पर उसकी प्रणाली बड़ी सुन्दर है।

* * *

एक दिन वह करुणा की माँ के निकट बैठी हुई बातें कर रही थी। उसी समय मैं भी वहाँ पहुँच गया। मैंने कहा—धन्य भाग्य, जो आपने मेरी इस कुटीर को पवित्र तो किया।

उसने मुसकराते हुए कहा—तो क्या डॉक्टर साहब यह कुटी आपही की है? क्या मेरा इसमें कहीं कुछ भी नहीं है?

मैंने कहा—मुझे क्षमा करो, मैं अपने शब्द वापस चाहता हूँ। सभी कुछ तो आपका है। घर तो है ही, मैं भी हूँ।

अज्ञान में अपने हृदय की बात मैं एकदम से कह गया। ज़रा-सा भी विराम मैंने नहीं लिया। पर फिर देखा, वह मेरे

इस उत्तर से प्रसन्न भी हुई और फिर गम्भीर भी हो गई। मैं मन ही मन पछताने लगा। यही सोचने लगा कि सचमुच इतनी दूर तक मुझे न जाना चाहिए था। पर जान पड़ता है, मुझे गम्भीर देखकर ही उसने विषय बदल दिया। कहा—मैं दीदी से पूछ रही थी, डॉक्टर साहब तुमको कितना चाहते हैं। लेकिन ये कुछ उत्तर ही नहीं दे रही हैं!

मैंने कहा—तो फिर इस कथन से आपका क्या तात्पर्य है? क्या आप उनका उत्तर मुझसे चाहती हैं?

तब तक करुणा की माँ ने उसे धक्का देकर कहा—जाओ, तुम्हारी ये बातें मुझे नहीं सुहातीं।

उसने उत्तर दिया—मेरी बातें तुमको भला काहे को अच्छी लगने लगीं! मैं डॉक्टर साहब तो हूँ नहीं जो मेरी सभी बातें तुम्हें अच्छी लगतीं। फिर मुझसे इसका समर्थन कराते हुए बोलीं—क्यों डॉक्टर साहब, मैं ठीक कहती हूँ न?

मैंने भी कह दिया—अब यह भी आप ही समझ लें तो अच्छा हो!

मेरा इतना कहना था कि करुणा की माँ और वह, दोनों खिल-खिलाकर हँसने लगीं।

मैं अपने काम से बाहर चला आया।

(४)

गृहस्वामी का नाम था त्रिलोकीनाथ। चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने यह दूसरा विवाह किया था। उस समय

उनकी इन नव-पत्नी की अवस्था चौदह वर्ष की थी। पर अब त्रिलोकी बाबू की अवस्था बावन वर्ष के लगभग हो रही थी। मैंने एक दिन रजनी से पूछा—त्रिलोकी बाबू पहले तो हृष्टपुष्ट रहे होंगे?

उसने कहा—नहीं तो। जब से मैं आई हूँ, तब से इन्हें इसी रूप में देख रही हूँ। पहले तबीअत ठीक रहती थी। अब, इधर कुछ समय से, बिगड़ गई है। लेकिन डॉक्टर साहब, आज आपने यह प्रश्न मुझसे क्यों किया?

अब मैं बड़े धर्म-संकट में पड़ गया। वास्तव में मैं ऐसी परीक्षा में बैठने योग्य विद्यार्थी नहीं हूँ।

उसने फिर तुरन्त कहा—आप कुछ संकोच न करें—जो, कुछ भी आपके मन में आये, कह डालें। मैं इसके लिए आपसे आग्रह-पूर्वक अनुरोध करती हूँ।

मैं रजनी के सौभाग्य के सम्बन्ध में प्रायः सोचा करता था। उसकी ओर देखकर भगवान् की कठोरता पर मुझे बड़ा क्षोभ होता था। आज रजनी ने मेरे मर्मस्थान पर पहुँचकर, जान पड़ता है, मेरे उस क्षोभ को ही छेड़ने का विचार स्थिर कर लिया था। पर मैं ऐसे नाज़ुक विषय पर, एक ऐसी नारी के समक्ष, भला कैसे कुछ कहता। मैंने कहा—यों ही पूछ लिया। कोई ख़ास बात मेरे मन में नहीं आई।

उसने कहा—डॉक्टर साहब! अब आप हमसे उड़ें नहीं। जो कुछ भी कहना चाहें, कह डालें। इसमें संकोच

करने की कोई बात नहीं है। सम्भव है, इस प्रकार की बात-चीत से मेरा कुछ हित ही हो जाय।

मैंने जब देखा कि अब जान नहीं बचती है तो कह दिया—बात यह है कि मैं ऐसे विवाहों का पक्षपाती नहीं हूँ। इनसे जीवन का निर्माण नहीं, निर्वाण होता है।

उसने उत्तर दिया—आपका विचार ठीक हो सकता है। पर मेरे सम्बन्ध में आप इस दृष्टि से विचार करके मुझ पर अन्याय ही करेंगे। नारी के जीवन का निर्माण पुरुष नहीं कर सकता। उसे तो करुणानिधान भगवान् का स्नेह, उसी की दया पर अवलम्बित रहकर अपने आप अपने जीवन की रचना करनी पड़ती है। मनुष्य में इतनी सामर्थ्य कहाँ जो वह नारी की जीवन-सरिता की गति का सारथी हो सके। भगवान् की दया ही नारी की शक्ति है। विश्व में जिसे हम सुख-दुख समझते हैं, वह सब भगवान् की लीलाएँ होती हैं। यदि हम उनको भूल न जायँ, तो हमारे जीवन का निर्वाण कभी हो ही नहीं सकता।

मैंने कहा—आपकी दृष्टि आध्यात्मिक है। मैं जो कुछ सोचता हूँ उसमें सांसारिक दृष्टि है। आपके समान सुशिक्षिता धार्मिक ललनाएँ हमारे समाज में मिलती कहाँ हैं? आप विचार करके देखें, तो स्वतः यह अनुभव करेंगी कि यदि आपका विवाह वय, शिक्षा और प्रकृति का विचार

करके किया जाता तो आपका जीवन कितना उच्च और सुखी होता !

रजनी बोली—पर आपने यह भी सोच देखा है कि ऐसा होता कैसे ? हम बोते जौ हैं और आशा करते हैं गेहूँ की ! हमारा यह विचार कैसा भ्रम-मूलक है !

मेरी अल्पबुद्धि में रजनी की इस बात का कोई उत्तर नहीं था। फिर भी मैंने कहा—आपकी इन उच्च भावनाओं की प्रशंसा करते हुए भी हमें समाज की समस्या पर ध्यान देना ही पड़ेगा।

उस दिन से रजनी के प्रति मेरे हृदय में आदर का स्थान हो गया। जिसे भगवान् ने ऐसा सुन्दर रूप दिया, ऐसा सरल किंवा मधुर स्वभाव दिया, उसे विवेक तो दिया, पर सौभाग्य क्यों नहीं दिया, मैं दिन-रात अब यही सोचने लगा।

(५)

जब इस घर में आया था, तब मेरी स्थिति बहुत साधारण थी। पर इधर दो ही तीन वर्षों के भीतर भगवान् की दया से अब मेरी प्रैक्टिस चल निकली। अब मेरी आय बढ़ गई थी। कई बार इस मकान को छोड़कर दूसरे अच्छे से बँगले में रहने का निश्चय किया। पर रजनी ने मुझे जाने नहीं दिया। उसने सदा यही कहा—अभी तक इस मकान में आप अपने मन से रहे हैं, अब कुछ दिन हमारे ही मन से बने रहिए। फिर, जिस मकान में रहकर आपने उन्नति

की है, क्या उस मकान के प्रति आपका कुछ भी मोह नहीं है ?

रजनी यह कहने के साथ मुसकराने लगी थी। मैं फिर आगे कुछ भी न कह सका था। कभी-कभी मैं यह भी सोचता था—घर तो अवश्य बढ़िया ले सकूँगा, पर ऐसी गृह-स्वामिनी कहाँ पाऊँगा ! अच्छा कुछ दिन और सही।

इसी प्रकार कुछ वर्ष और भी बीत गये। त्रिलोकी बाबू जैसे तब थे, वैसे ही अब भी बने हुए थे। उनके शरीर को देखकर तो ऐसा जान पड़ता था कि वे अधिक दिन तक नहीं चलेंगे। पर उनका जीवन-दीप अभी स्नेह से ओत-प्रोत जान पड़ता था।

एक दिन करुणा की माँ को, उसके भतीजे के विवाह में सम्मिलित होने के लिए, उसके पिता के घर भेजने जाना पड़ा। वहाँ मुझे कई दिन लग गये। जब लौटा तो रजनी को अस्वस्थ पाया। कई दिन के ज्वर के पश्चात् अचानक उसे टाईफाइड होगया था। यद्यपि उसकी चिकित्सा में मैंने सारी शक्ति लगा दी; पर मैं भला उसके जीवन की रक्षा करनेवाला कौन था ?

रात के तीन बजे थे। रजनी के पलंग के पास ही एक कुर्सी पर मैं बैठा हुआ था। पास के दूसरे कमरे में त्रिलोकी बाबू गंभीर निद्रा में लीन होकर खर्राटे भर रहे थे ! रजनी का मुख एकदम से ज्योतिर्मय-सा हो उठा। अत्यन्त

गम्भीर होकर उसने मेरी ओर देखा। मैंने उसका टेम्परेचर लिया तो मेरा हृदय धड़कने लगा। इसी समय उसने कहा—आपने देखा, वे सो रहे हैं!

मैंने कहा—हाँ, कई दिनों के जगे हुए भी तो हैं।

वह बोली—कुछ आज ही नहीं, वे तो सदा इसी तरह सोते आये हैं। अच्छा, अब मैं भी सोती हूँ।

मैंने कहा—आप यह सब क्या कह रही हैं!

वह बोली—अच्छा, न कहूँगी कुछ।...पर आज एक बात आपसे कहना चाहती थी!

मैंने पूछा—क्या?

वह बोली—सोचती हूँ कहूँ कि नहीं।

मैं—जैसी इच्छा हो।

वह—अच्छा, कहे ही देती हूँ।...यदि इस जीवन में मुझसे आपका कुछ अपराध बन पड़ा हो, तो आप मुझे क्षमा कर दें।

अब उसकी आँखों में आँसू भर आये।

मैंने कहा—आप कैसी बातें कर रही हैं। अपराध और आपसे! यह कभी सम्भव नहीं है।

वह बोली—अच्छा, अगर बन ही पड़ा हो, तो?

मैं—असम्भव!

वह—अच्छा, तो बतलाती हूँ।...बात यह कि मैंने तुमको बहुत कष्ट दिया है, तुम्हें सदा भ्रम में रखा है।

रजनी की भाषा में आज यह परिवर्तन कैसा है! यही सोच कर मेरा गला भर आया। मैं अपनी रुलाई सम्हाल न सका। पर वह कहती ही गई—वास्तव में मैं तुमको...। जान पड़ा इसके पश्चात् वह और भी कुछ कहने जा रही थी; पर बीच में मैंने कह दिया—मैं सब समझता हूँ। कहने ही से सब कुछ नहीं जान पड़ता।

उसने फिर कहा—फिर भी मैंने तुमको भ्रम में रक्खा। जानते हो क्यों? क्योंकि मैं इसकी अधिकारिणी नहीं थी—चाहते हुए भी मैं तुमको नहीं चाह सकती थी! क्या तुम इसके लिए मुझे क्षमा न करोगे! मुझे विश्वास है कि यह मेरी अन्तिम प्रार्थना तुम अवश्य स्वीकार करोगे।

इसके बाद उसका गला रुँध गया। उसकी आँखों के आँसू एकाएक स्थिर हो गये। उसी दिन उसकी वह पवित्र आत्मा अन्तर्धान हो गई।

* * *

करुणा की माँ भी अब कभी-कभी रजनी की हँसोड़ प्रकृति की याद कर करके मन ही मन दुखी हो लेती है। वह मुझसे जो-जो बातें कहती है, मैं उन्हें चुपचाप सुन लेता हूँ; कभी कुछ कहता नहीं हूँ। एक दिन उसने कहा—क्या तुमको कभी दीदी की याद नहीं आती? वे तो तुमसे बड़ा स्नेह मानती थीं।

मन में आया कह दूँ—पर उनकी उपस्थिति में भी तुमने कभी मुझे यह बात बतलाई थी ! लेकिन, यह कहने के बदले, मैंने कहा—उनकी याद मुझे क्यों न आयेगी ? और स्नेह की जो पूछो, तो वे तुमसे सबसे अधिक स्नेह करती थीं !

इधर हम लोग घर में इस प्रकार की बातें किया करते हैं—उधर त्रिलोकी बाबू कभी-कभी अपना तीसरा विवाह करने की भी इच्छा प्रकट कर लेते हैं !

प्रेमलता

(१)

एक दिन की बात है, कानपुर सेंट्रल स्टेशन पर ज्यों ही गाड़ी खड़ी हुई, त्यों ही देखता क्या हूँ, चलती गाड़ी से एक आदमी कूद पड़ा और उसके शरीर में ऐसी चोट आ गई कि वह गिरते ही अचेत हो गया। बहुत-से व्यक्तियों ने उसे जाकर घेर लिया! मैंने भी उसे निकट जाकर देखा। उसके बदन पर मैले, कीचड़-से, फटे चिथड़े-मात्र थे, जिन पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पेट उसका पिलखा हुआ था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे उसने कई दिनों से खाना न पाया हो। उम्र तो अभी अधिक न थी, यही २४-२५ की रही होगी; परन्तु शरीर एकदम जर्जरित हो गया था। दाढ़ी बढ़ी हुई थी और जान पड़ता था, अधिक नहीं, यही डेढ़-दो वर्ष की है। दाँतों पर मैल जमा हुआ था। आगे के दोनों दाँत खुले हुए थे और मुँह से फेन निकल रहा था। देर तक मैं उसे उसके निकट खड़ा-खड़ा देखता रहा। परन्तु रात की बात ठहरी, फिर मुझे स्टेशन से कोसों दूर अपने होस्टल जाना था। अधिक देर तक मैं वहाँ कैसे ठहरता। अस्तु, मैं भी फिर चला आया।

घर आने पर दस बज गये थे। तुरन्त खाना खाकर मैं ऊपरवाले कमरे में चुपचाप सो गया। सो तो गया, परन्तु रात को नींद अच्छी तरह नहीं आई। वही स्टेशन की घटना मुझे बार-बार अस्थिर बना देती, और मैं स्वप्न-सा देखने लगता था।

सबेरा हुआ। आज मुझे कालेज अटेंड करना था। पहले तो सोचा—हटाओ इस चरखे को, अपना काम देखो। यह तो संसार है। यहाँ तो आये दिनों यह सब होता ही रहता है। परन्तु फिर भी जब बार-बार वही दृश्य सामने आ जाने लगा और उसने जब किसी तरह मन को स्थिर ही न होने दिया, तो स्टेशन पहुँचकर उसका पता लगाने का मैंने निश्चय कर लिया।

अभी सबेरा अच्छी तरह हुआ ही था। सरदी भी कुछ-कुछ थी ही। मैंने ऊनी स्वेटर पहनकर ऊपर से गरम कोट पहन लिया। फाउंटेन-पेन जेब में यथास्थान चिपका हुआ था ही, परन्तु फिर भी उसको एक बार इतमीनान के साथ वहाँ उपस्थित दशा में देख लिया। तदनन्तर मैंने अपनी डायरी भी दाईं ओर की जेब में रख ली। बस, फिर साइकिल सखी को लेकर मैं स्टेशन की ओर चल दिया।

रात के सात बजे की घटना थी और अब इस समय तो दिन के साढ़े आठ बजे थे। स्टेशन पर कहीं भी कोई ख़ास बात नहीं देख पड़ी। सभी लोग अपने काम में व्यस्त मिलने

लगे। मैंने मन-ही-मन कहा—संसार की गति कैसी विचित्र है! मालूम नहीं वह व्यक्ति कौन था, कौन जाने उसकी क्या दशा हुई हो। परन्तु यहाँ ऐसा जान पड़ता है, जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो। अब बार-बार मेरे मन में यही बात आने लगी कि कहीं वह व्यक्ति मर न गया हो। परन्तु पूछा भी जाय तो किससे? तत्काल एक कुली के पास जा पहुँचा और उससे पूछा—कल रात को जो एक आदमी चलती गाड़ी से कूद पड़ा था और फिर अचेत हो गया था—प्लेटफ़ार्म के उसी स्थल की ओर इशारा करके मैंने बतलाया—उस जगह की बात है। उसका फिर क्या हुआ?

कुली बोला—बाबू, मुझे ठीक हाल नहीं मालूम, मैं तो कल बाहर अपने गाँव गया हुआ था। आप किसी और से पूछ लीजिए।

इसी समय मुझे ख़्याल आ गया कि मेरे मित्र ब्रजमोहन बाबू भी तो यहीं बुकिंगआफ़िस में होंगे। चलो, उन्हीं से पूछ लिया जाय। झट से उनके पास दौड़ गया। पर वे भी अपनी रात की ड्यूटी समाप्त करके घर चले गये थे। एक बार जी में आया, उनके घर ही पर चला चलूँ, वे तो सब जानते ही होंगे। सब विधिवत् बता देंगे। पर मेरे मन की आतुरता इसको भी सहन करने को तैयार न हुई। उसने कहा—यह बात नहीं। स्टेशन की घटना है, और तुम वहीं खड़े भी हो, तो भी इधर-उधर की बात सोच

रहे हो। तब मैंने उसी बुकिंगआफ़िस के एक बाबू से पूछा। उन्होंने बतलाया—हाँ, मैंने भी उस आदमी को देखा था। पर वह तो मर गया। उसके पास एक डायरी, दो-तीन चिट्ठियाँ, एक फ़ोटो तथा कुछ पैसे निकले थे।"

मैं एकदम से स्तम्भित हो उठा। मैंने कहा—ऐं! मर गया!!

वे बोले—हाँ, बेचारा मर गया।...आप उसके...?

मैंने कहा—मैं भी कल उसी समय आगरे से वापस आया था। यह घटना उसी समय की है, जब मैं उसी ट्रेन से उतरकर घर जाने को स्टेशन के बाहर जाने लगा था। उस समय मैं ज़रा जल्दी में था, मुझे दूर जाना था और रात की घटना ठहरी। उस समय मैं रुक न सका पर इस समय जी न माना। सोचा, चलूँ, कम-से-कम यह तो जान लूँ कि फिर उसका हुआ क्या। पर इस समय, जैसी मुझे भी आशङ्का थी, आपसे सुन ही रहा हूँ कि वह मर गया!

उदास होकर उन्होंने फिर कह दिया—हाँ, वह तो मर गया।

कुछ देर तक चुप रहकर मैंने पूछा—"क्या सिर में ज़्यादा चोट आ गई थी? कुछ मालूम हुआ, चोट के कारण मरा या और किसी वजह से? कमज़ोर भी तो वह बहुत था।"

उन्होंने कहा—मेरा भी यही ख़्याल है कि वह कमज़ोर बहुत ज़्यादा था और इसी लिए पत्थर पर सिर के बल

गिरने की चोट को वह सहन न कर सका। पर सच्ची बात तो यह है बाबू, कि उसकी मौत आ गई थी। यह तो मौत का एक बहाना-मात्र है। कहने को हो गया कि बेचारा चलती ट्रेन से गिरकर मर गया!

मैंने पूछा—फिर उसका हुआ क्या?

उन्होंने बतलाया—होने को क्या था, रात को तो उसकी लाश जाँच-वाँच और क़ायदे की लिखा-पढ़ी की वजह से शायद रेलवे पुलिस-स्टेशन पर रही पर अभी सबेरे एक ठेले के ज़रिये से गङ्गा जी में फिंकवा दी गई।

(२)

अब मैं रेलवे के पुलिस-स्टेशन पर गया। वहाँ भी मुझे ऊपर की हुई बातें ज्यों की त्यों मालूम हुईं। अन्त में मैंने 'इन-चार्ज' के पास बैठकर उनसे कहा—उसके पास जो काग़ज़ात निकले हैं, मैं उन्हें देखना चाहता हूँ।"

उत्तर मिला—आप उसके कौन हैं?

मैंने कहा—मैं उसका कोई भी नहीं हूँ, फिर भी मैं उन्हें महज़ देखना चाहता हूँ। मुझे ऐसी याद पड़ती है कि मैंने उसे पहले भी कहीं देखा था। मुमकिन है, उससे मेरी कोई मुलाक़ात या कोई रिश्ता ही निकल आये। अभी मैं ठीक कह नहीं सकता। काग़ज़ात देखूँ तो शायद बता सकूँ।

उसका सहकारी बोला—दिखला दीजिए, अपना हर्ज ही क्या है?

फिर तो उसकी डायरी, फ़ोटो और चिट्ठियाँ मेरे सामने आ गईं। सबसे पहले मैंने फ़ोटो देखा। वह थी तो पुरानी, उसकी दफ़्ती भी मैली पड़ गई थी; पर उसका मूल भाग बिलकुल साफ़ था। वह एक नवयुवती का चित्र था। वह वास्तव में सुन्दरी थी। देर तक उसी फ़ोटो को मैं देखता रहा। कितने विचार मेरे मन में आये और गये, कह नहीं सकता।

एक बार मैंने मन-ही-मन कहा—"नारी! तुम जगत् की आदि शक्ति हो। तुम माया हो। तुम्हारे भीतर और बाहर—अन्तर और अनङ्ग देहलता में—मानवी आत्मा को हम निरन्तर आलोड़ित पाते हैं। परन्तु तुम मानव-जीवन की मदिरा हो! तुम्हारे रूप के नशे में हम अपने जीवन को डुबा-डुबाकर उसे सदा के लिए शान्त करते रहते हैं। परन्तु फिर भी तृप्ति नहीं होती! तुम्हारा मृदुल स्पर्श, तुम्हारी प्राण-प्रद कण्ठ-लहरी, तुम्हारा अचेतनकारी आलिङ्गन, तुम्हारी प्रलयङ्करी केलि-क्रीड़ा, तुम्हारी स्नेह-लतिका की भीनी-भीनी ख़ुशबू और तुम्हारी सहवास-सिक्त मर्मान्तक स्मृतियाँ हमारे लिए सदा प्राणघातक रही हैं! तुम विषमयी सुधा हो! हाय! यह युवक कहीं तुम्हारे रूप का ही तो शलभ न था!!"

इस तरह उसे इकटक देखकर और अपने मन के विचारों को एक बार मथकर मैंने उस फ़ोटो को तो एक ओर रख दिया। अब उसकी चिट्ठियों को पढ़ना आरम्भ किया। अभी मैंने एक पत्र को, जो कई काग़ज़ों में लिपटा हुआ था और

एक खुले लिफ़ाफ़े में रखा हुआ था, देखा ही था कि मेरा सन्देह सहस्र फणों को फुफकार-फुफकार कर मेरे सामने नाचने लगा।

वह पत्र इस प्रकार था—

"मेरे प्रेम,

३-३-२६

हाय तुमने यह क्या किया! मैं तो मुँह दिखाने लायक़ भी नहीं रही। अब तो सभी सन्देह करने लगे। आज तो माँ ने स्पष्ट ही कह दिया—'क्यों री लता, इस बार भी तेरा मासिक धर्म नहीं हुआ! देह भी तेरी पीला पड़ रहा है, दुर्बलता भी स्पष्ट झलक रही है और तबीअत भी तेरी ठीक नहीं रहती। ये सब लक्षण तो कुछ और ही बता रहे हैं। मुझसे साफ़ तौर से कह क्यों नहीं देती कि मैंने मुँह पर कालिख पोत ली है। अभी प्रबन्ध हो भी सकता है। पर फिर तो कुछ भी किये-धरे न हो सकेगा। फिर तो सिवा इसके कि...अब मैं तुझसे क्या कहूँ। पगली, तू इतना भी क्या नहीं समझती कि तेरा भविष्य कितने अन्धकार में है! हाय! अब मैं क्या करूँ!

मेरे प्राण, तुम तो कहा करते थे कि कहीं कुछ न होगा, कोई डर की बात नहीं है। पर तुमने यह कर क्या दिया! मुझे रातों नींद नहीं आती। सोते-सोते चौंक पड़ती हूँ। मुझसे खाना नहीं खाया जाता। सिर में निरन्तर पीड़ा ही

बनी रहती है। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता है। कालेज जाना तो छूट ही गया है। उफ़! यही मेरा अन्तिम वर्ष था! अरे इंटर की शिक्षा तो समाप्त कर लेती। हृदय की सारी आशायें आँसुओं के रूप में सदा के लिए बही चली जा रही हैं। क्या इस अथाह जलधारा में तुम मुझे डुबा ही देना चाहते हो?

मेरे स्पन्दन, तुम तो कहा करते थे—'यह एक जीवन है ही क्या चीज़, तुम पर तो मैं सहस्र जीवन वार सकता हूँ, लता!' सो मैं तुमसे सहस्र नहीं, केवल एक ही जीवन—नहीं, इसकी भी आवश्यकता न होगी, केवल दस वर्षों के, इस (इसी समय के) जीवन की भिक्षा माँगती हूँ। फिर तो सब अपने आप ठीक हो जाता है। मेरे भविष्य को अब और अधिक अन्धकार में न डालो। ऐसा करो जिसमें हम दोनों एक होकर रह सकें। क्या तुम मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकते? तुम्हारा उत्तर-भर आने की देर है, मैं तुरन्त चली आऊँगी। एक मकान किराये पर ले लेना और बस, फिर सब ठीक हो जायगा। अरे माता-पिता ही न छूटेंगे, अधिक-से-अधिक यहाँ न होगा! और भी दस-बीस परिचित व्यक्ति जान लेंगे और मेरे नाम पर दस-पाँच गालियाँ सुना देंगे! माँ और पिताजी कुछ दिनों तक रो-धो लेंगे। पर फिर तो सारे कार्य पूर्ववत् चलने लगेंगे।

देखो, इस बार उत्तर अवश्य देना। मैं अगले सोमवार

तक तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा करूँगी। इसके बाद मेरी क्या दशा होगी, इसकी कल्पना तुम स्वयं कर लेना।

तुम्हारी—लता"

(३)

जान पड़ता है, यह उसका अन्तिम पत्र रहा होगा; क्योंकि इससे पूर्व के भी दो पत्र और मिले जिनमें पहला पत्र इस प्रकार था—

"मेरे भविष्य,

इस बार जबसे तुम गये हो, तबसे मेरे जी को न जाने क्या हो गया है! स्वप्न देखती हूँ तो तुम्हारा, मिठाई—खासकर खीरमोहन—खाती हूँ तो तुम्हारी ही छवि सामने आकर मुसकराने लगती है। फिर तो मेरी गति भङ्ग हो जाती है। कौर गले के नीचे मुश्किल से उतरता है। तुमको इलायची क्षण-क्षण पर देनी पड़ती थी। हाय! वही इलायची कोई सामने ला देता है, तो झट से तुम्हारे पास दौड़-सी जाती हूँ। फिर कौन खाये ऐसी इलायची, जिसमें तुम्हारी स्मृतियाँ मड़राने लगती हों! और सबसे बड़ी बात यह है कि तुम्हारे साथ बैठकर खाऊँ तो खा भी लूँ। अकेली बैठकर क्या खाऊँ।

यही दशा पान की है। तब से मैंने एक भी पान नहीं खाया है। भाभी बड़े आदर से पान दिया करती हैं; पर मैं कह देती हूँ—ऊँ हूँ, इच्छा नहीं है। और भाभी

मुँह बिचकाकर मेरी मुद्रा और भावभङ्गिमा की कॉपी करने लगती हैं ! तुम मुझे सेल्मा लेगरलाफ का 'आउट कास्ट' और टाल्स्टाय का 'रेज़रेक्शन' पढ़ने को कह गये थे। मैंने उन्हें पढ़ डाला है। अब मुझे और क्या पढ़ने को कहते हो ! ये दोनों उपन्यास मुझे बहुत पसन्द आये। 'रेज़रेक्शन' में हाय बेचारी कटूशा का जीवन कितना विषादमय था ! और वह निखल्यूडोव भी मानव-कल्पना से कितनी उच्च आत्मा थी ! क्या वह टाल्स्टाय ही ख़ुद था ! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, ये महर्षि स्वयं ही इस प्रकार के जीवन में रहे होंगे। और 'आउट कास्ट' में स्वेन, सिग्मन और उसका देवोपम पति—वह बूढ़ा पादरी—ये सब कितनी ऊँची कल्पनाएँ हैं ! और प्राणेश, तुम भी क्या इनसे कुछ कम हो ! तुम भी तो ऐसे ही प्रिय, ऐसे ही मधुर और ऐसे ही उज्ज्वल हो ! मेरी आशा, तुम मुझे जो स्वर्णिम निब की वह फाउंटेन-पेन दे गये हो, ख़ूब अच्छी तरह 'सर-सर' चलता है। तुम्हारी अँगुलियों के बीच में रहनेवाली इस लेखनी को चूम लेती हूँ तो मुझे एक बार तुम्हारे...... के तरल स्पर्श का स्मरण हो आता है। सोचती हूँ—इतनी जल्दी तुम ऐसे ढीठ कैसे बन गये कि एकदम से......लगे। और मैं !—मैं अब अपने को क्या कहूँ !

यह सब क्या है प्यारे ! यह क्या है जो हुलस-हुलस कर मेरी आत्मा में हुङ्कार-सा मचाये रहता है। यह क्या है

जो निरन्तर तुम्हीं में आत्मसात् हो जाना चाहता है। अरे कुछ तो बतलाओ !

तुम कैसे हो, तुम्हारे मन में भी तो कोई तूफान नहीं बरपा है, यही जानना चाहती हूँ। बतलाओगे न ? सङ्कोच तो न करोगे ? सङ्कोच, सच पूछो तो, मुझे करना चाहिए था। सो मैंने, तुम्हारे आग्रह करने पर, उसे इस समय अपने आपसे निकालकर फेंक दिया है। आशा है, तुम अपनी भी लिखोगे।

उस बार तुमने उत्तर नहीं दिया था। क्या बात हुई, यह पूछ न सकी। यह भी न पूछ सकी कि उस पत्र का फिर क्या किया था, फाड़ डाला था या नहीं। ख़ैर, अब इस पत्र का उत्तर देना। देखो, विलम्ब न करना। नहीं तो खुट्टी हो जायगी, खुट्टी ! 'अरे हाँ !' हँहँहँ, देखो, मेरी इस 'अरे हाँ' पर जितना चाहना, हँस लेना। मैं भी यहाँ हँस लिया करता हूँ।

तुम्हारी हो तो—

लता"

दूसरा पत्र, जो इससे भी पहले का है, इस प्रकार है:—

३-३-२५

"मेरे प्रेम,

कौन थे तुम, जो मेरे मानस में आते-आते एक-बारगी रम-से गये ! रोज़ाना सवेरे उठती हूँ तो तत्काल

कानों में कोई कह उठता है—अरे, यह हो क्या गया ? यह स्वप्न तो नहीं है !

और लोग सोते हुए स्वप्न देखा करते हैं, मैं जागते हुए स्वप्न देखती हूँ। और लोग रात में, गंभीर निद्रा में मग्न होकर स्वप्न देखते हैं, पर मैं उस समय स्वप्न देखती हूँ, जब प्रातःकाल उठकर, अपने घर के विशाल आँगन में छाये हुए प्रकाश और सुनील अम्बर में चहचहाती, फुदकती, उड़ती-फिरती हुई चिड़ियों को अपने-अपने वृन्द के साथ इधर-से-उधर जाती हुई देखती हूँ। जब कभी सारस की जोड़ी देखता हूँ, तो मुझे मेरा स्वप्न झट से कोंचने लगता है। सोचती हूँ—यदि मैं पक्षियों की भाँति उड़ सकती ! अथवा मैं कोई पक्षी ही होती। तब इतनी स्वतन्त्र तो होती कि उड़कर तुम्हारे होस्टल की ऊपरी खिड़की पर जा बैठती। और न सही तो तुमको देखा तो करती ही। फिर चाहे तुम मुझे देखते, चाहे न देखते !!

तुम कह गये थे कि पहुँचते ही पत्र लिखोगे; पर तुमने अभी तक पत्र नहीं लिखा। कई दिनों तक प्रतीक्षा करने के बाद मुझे ही लिखना पड़ा। आशा है, तुम सकुशल और सानन्द होगे।

तुम्हारी—लता"

यद्यपि इन पत्रों को देख लेने के अनन्तर मुझे इस बात का अच्छी तरह से निश्चय हो गया कि हो-न-हो, इस युवक

की यह दशा 'लता' से ही सम्बन्ध रखती है; परन्तु फिर भी डायरी देखने को मेरा मन ललच उठा। अब मैं उसके पन्ने उलटने लगा। कहीं सुन्दर ब्ल्यू इङ्क में पतले निब से लिखे हुए बड़े ही सुन्दर अक्षर मिले, कहीं पेन्सिल के ही लिखे हुए। रेलवे पुलिस-विभाग के 'इन-चार्ज' ने कहा—

"कहिए, कुछ पता चला इस आदमी का?"

मैंने कह दिया—हाँ, वह मेरा मित्र था।

उसने पूछा—कहाँ का रहनेवाला था?

मैंने कहा—बटेश्वर का।

वह बोला—उसके घर का पता लिखवा दीजिए।

मैंने पता लिखवा दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि उसका यह सब सामान उसके घर पर भेजने की आवश्यकता नहीं है। बात यह है इन चीज़ों का उसके घरवालों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब तो उसकी बहुत ही प्राइवेट, एकदम गोपनीय वस्तुएँ थीं; जिनको उसने मरते दम तक अपने साथ रक्खा। अगर आप उचित समझें, तो यह सब सामान मुझे दे दें। मैं इसे अपने यहाँ सुरक्षित रखूँगा। यों मैं आपसे ऐसी बात न कहता। परन्तु एक ऐसा ही कारण है, जिससे यही उचित जान पड़ता है। यह अपने घर का ज़मीन्दार और सम्पन्न व्यक्ति था। परन्तु अकस्मात् कुछ घटनाएँ ऐसी घट गईं, जिससे अपना घर-बार त्याग

कर वह इधर-उधर भटकता फिरा। हृदय पर मार्मिक चोट पहुँच जाने के कारण वह पागल हो गया था। ये चीज़ें उसके घर पहुँचेंगी, तो कद्र करना दूर रहा, उलटे इनकी बेइज़्ज़ती होगी। और यदि ऐसा हुआ तो इसकी स्वर्गगत आत्मा को बड़ा कष्ट पहुँचेगा। एक परिचित मित्र होने के नाते मैं उसके लिए ऐसा होने देना उचित नहीं समझता। आप भी सोच लीजिए। मेरा ख़्याल है, आपको इस ज़रा-से मामले में कोई एतराज़ न करना चाहिए।

मेरी बात मानकर रेलवे-पुलिस के इन-चार्ज ने उसका सामान मेरे हवाले कर दिया। मैंने अपना पता-ठिकाना देकर सामान पाने की रसीद लिख दी।

इस समय नौ बज गये थे। और अधिक न रुककर मैं लौट आया।

(४)

अब आपको मैं उसकी डायरी के कुछ पृष्ठों की ओर ले चलता हूँ। देखिए :—

"सन् २७ के नवम्बर मास की तीसरी तारीख़ है। मैं आज ही विलायत से यहाँ, अपने घर, पहुँचा हूँ। अभी पन्द्रह दिन की बात हुई, पिताजी का देहान्त हो चुका है। वैसे तो मैं बाद में आता, पर पिताजी की मृत्यु का समाचार पाकर

तुरन्त चला आना पड़ा। उनका संस्कार करके मुझे फिर बार-एट-ला की डिग्री लेने के लिए इँगलैण्ड लौट जाना है।

आज पिताजी के सारे कागज़ात उलट-पुलट रहा था। उन्हीं में अपने नाम की एकाएक तीन चिट्ठियाँ पा रहा हूँ। सभी डाक से आई हुई हैं। परन्तु सबके कवर खुले हुए हैं। इससे जान पड़ता है, पिता जी ने मेरे नाम आये हुए इन पत्रों को पढ़ लिया है। और मालूम नहीं, क्या सोचकर उन्होंने ये पत्र, उस समय, जब कि ये आये थे, मुझे नहीं दिये।

१०-११-२७

लता के उन पत्रों को पढ़कर उसी दिन मैं उसके शहर गया था। मेरा ननिहाल भी वहाँ, उसके पड़ोस में है। पता चला कि उसके बच्चा होनेवाला था। अपनी बदनामी को छिपाने के लिए, उसके पिता, उसे माघ-मेले के अवसर पर प्रयाग लाकर वहीं छोड़ गये। पर घर लौटने पर ज़ाहिर कर दिया कि वह तो नहाते-नहाते इतने गहरे पानी में पहुँच गई कि फिर उसका कहीं पता ही न चला। बहुत खोजा, जाल डलवाये, पर कहीं उसका शव तक न मिला। और तब मैंने समझ लिया कि उसे कोई जल-जन्तु घसीट ले गया!

१३-११-२७

सोचता हूँ, हाय! यह हो क्या गया! विश्वास नहीं होता कि लता गङ्गाजी में डूब कर मर गई है। तो फिर वह गई कहाँ? अब मेरा यह जीवन उसको खोजने में ही

बीतेगा। दिन-रात उसे खोजूँगा। बस यही मेरा कार्यक्रम है। माँ कहती है—जब से तुम इस बार अपने ननिहाल से लौटे हो, तब से तुम्हें हो क्या गया है? वे कहती हैं—"प्रेमू, तुम इतना दुख काहे को करते हो। वे चले गये, तो क्या हुआ! तुम्हारे सुखमय जीवन-निर्वाह के लिए वे सब कुछ तो छोड़ गये हैं।"

परन्तु, हाय! उन्हें मैं कैसे बतलाऊँ कि वे मेरे लिए कुछ भी नहीं छोड़ गये!

लता के पास चिट्ठी भेजने को मेरा भी जी चाहता था। पर इस विचार से कि कहीं किसी दूसरे के हाथ में मेरी चिट्ठियाँ न पहुँच जायँ, मैंने उसके घर के पते से पत्र भेजना उचित न समझा। और गर्ल्स कालेज के मार्फ़त चिट्ठियाँ भेजना तो और भी भयङ्कर था। निदान अपनी ओर से मैं उसको कोई पत्र न डाल सका था। पर मुझे क्या पता था कि वह मुझे बराबर चिट्ठियाँ लिख रही है। मुझे क्या ज्ञान था कि उसका प्राण, उसका जीवन, इतने सङ्कट में पड़ गया है!

१४-११-२७

लता!—मेरी आशा-लता! हाय! तुम कहाँ हो! ईश्वर! क्या तुम्हारे कान नहीं हैं! तो फिर तुम सुनते क्यों नहीं हो! अरे और न सही, मुझे यही बतला दो कि वह है कहाँ? इस संसार में वह है भी या नहीं!

जगत् की सेवा का कैसा पुनीत भाव उसके रोम-रोम

में समाया हुआ था! प्राणी-मात्र के प्रति उसके मन में अपार दया थी। वह दुखियों, दरिद्रों, असहायों के लिए अपने रुपये, अपने वस्त्र, बिना किसी हिचकिचाहट और पशो-पेश के दे देती थी! वह कहा करती थी—मनुष्य यदि भगवान् को देखना चाहे तो इन दीन-दुखियों की सहायता के ब्रह्मानन्द में उन्हें प्रत्यक्ष देख सकता है!

सरदी के दिनों की बात है। एक बार वह सिनेमा देखने मेरे साथ गई थी। साथ में उसकी छोटी बहन 'कुसुम' भी थी। लता के माता-पिता मेरा बड़ा विश्वास करते थे। (परन्तु हाय! अन्त में उनके साथ मैंने कितना गुरुतर विश्वासघात किया!) सिनेमा देखकर लौटते समय, गाड़ी में जब बैठकर हम लोग चलने लगे, तो एक भिखमङ्गा सामने आ गया। उसकी गोद में उसका एक नन्हा-सा बच्चा था। सामने आकर भिखारी हाथ पसारकर कहने लगा—"मेरे लिए नहीं, इस बच्चे की रक्षा के लिए, एक टुकड़ा गरम कपड़ा!"

और उसने उसी समय अपना स्वेटर उतारकर उसे दे दिया!

वह स्वभाव की बड़ी हँसोड़ थी। सदा उसके मुख पर एक प्रकार की मदिर मुसकराहट खेलती रहा करती थी! उसके आगे के दो दन्त मुक्त अधरों से सदा झाँकते-से रहते

थे। मेरा 'प्रेमशङ्कर' नाम उसे बहुत प्यारा लगता था। पचासों बार अपना यह प्यार वह मुझसे व्यक्त कर चुकी थी। हाय! इसी लिए तो वह बड़े प्रेम के साथ—बड़ी साध के साथ—मुझे 'मेरे प्रेम' लिखती रही।

हम लोगों में कुछ शब्दों पर बड़ी हँसी हुआ करती थी। मेरे एक परिचित वृद्ध सज्जन बात-बात में 'अरे हाँ' कहा करते थे। और मैं उनके इस 'अरे हाँ' कहने के ढङ्ग पर हँसते-हँसते लोटपोट हो जाया करता था। मैंने एक दिन लता को उनके दर्शन करा दिये। तब दो-एक बार उन्होंने उस समय भी 'अरे हाँ' कह दिया। इस पर लता को हँसी आ गई और तब हम लोग वहाँ से फ़ौरन चले आये। अधिक हँसने पर बुढ़ऊ कहीं चिढ़ न जायँ, इसी भय से।

इसी 'अरे हाँ' पर हँसने के लिए उसने अपने पत्र में भी लिखा है।

कुछ ऐसा संयोग आ गया कि मैं बी० ए० पास करके बार-एट-ला बनने को इँगलेण्ड चला गया। लता की याद मुझे दिन-रात नहीं भूलती थी। रास-विलास के उस क्रीड़ा-निकेतन लन्दन में लता की ही स्मृति से मैं अपने आपको संयत—सुरक्षित—रख सका था। मुझे विश्वास था कि जब मैं बैरिस्टरी पास करके यहाँ लौटूँगा तो लता से ब्याह कर लूँगा। परन्तु यहाँ उसका कहीं पता तक नहीं है।

१५-११-२७।

दो बरस उसे ढूँढ़ते हुए बीत गये। सभी तीर्थ-स्थानों पर घूम आया। भारतवर्ष-भर का नगर-नगर देख आया। वह तो क्या, कहीं उसकी छाया तक नहीं देख पड़ी। अब मुझे पूरा विश्वास हो गया कि वह इस संसार में नहीं है। यहाँ रह कर वह भला करती भी तो क्या करती! फिर यह संसार क्या उसके रहने योग्य था!

पिता! मेरे पूज्य पिता! तुम स्वर्ग चले गये, नहीं तो तुम्हारे सामने ही मैं अपना कलेजा चीरकर तुम्हें दिखा देता कि मेरी चिट्ठियाँ मुझसे छिपाकर—उन्हें चुराकर—तुमने मेरा सर्वस्व धूल में मिला दिया!

अच्छा तो लो, स्वर्ग में भी तुम्हारी आत्मा को जिसमें शान्ति न मिले, वही काम किये जाता हूँ। अपने-आपको धूल में मिलाकर मैं भी तुम्हारे नाम, तुम्हारे वंश को, सदा के लिए सुलाये जाता हूँ!

१३-१२-२६

* * * *

डायरी में प्रेमशङ्कर का यह अन्तिम नोट है। जान पड़ता है, इसके लिखने के कुछ ही दिनों बाद उसका इस प्रकार अन्त हुआ।

उस दिन लौटकर मैं श्मशान-घाट भी गया था। उसकी लाश लेकर उसका अग्नि-संस्कार भी मैंने करवा दिया था।

जिस समय उसके अस्थिपञ्जर को मैं जाह्नवी की अगाध जल-धारा में प्रवाहित करने को उठा, उसी समय एक जर्जर पङ्किल-वसना रमणी दौड़ती-हाँफती हुई वहाँ पहुँची।

उसके धूलि-धूसरित केश बिखरे हुए थे। उसकी सूजी हुई आँखें रक्तवर्ण थीं। खड़ी होकर मेरी ओर घूरते हुए उसने पूछा—"तुमने मेरे प्रेम को तो कहीं नहीं देखा! बताओ, जल्दी बताओ, इसी वक़्त बताओ—तुमने क्या कहीं मेरे प्रेम को देखा है?"

मैं कैसे कहूँ कि नहीं देखा?

सूखी लकड़ी

सन् १-६२५—

पौष मास के दिन हैं। थाने के निकट से लेकर झोंपड़ों के किनारे तक शाक-भाजी और फलवाले लगातार पाँत बाँध कर बैठते हैं। वहाँ सड़क से लगी हुई कुछ परचूनी की दुकानें भी हैं। राधे भी गृहस्थों के अपने भाग का उत्तर-दायित्व पूर्ण करने के लिए उधर जा निकला है। वहीं, एक दूकान पर बैठी, अपनी सखी से बातें करती हुई, वह अँगीठी से हाथ सेंक रही है। उस दूकान के आगे, कुछ हटकर, एक आदमी अमरूदों की ढेरी लगाये हुए है। राधे अमरूद खरीद कर चलने लगा, तो लकड़ीवाली ने टोंक दिया—बाबू, लकड़ी न लेबो ?

रूक्ष, म्लान उसकी कुन्तल-राशि है; मैली, फटी उसकी धोती। हाथों में चाँदी की चूड़ियाँ और मुद्रा में लोनी तरुणाई का झुलसता हुआ उद्वेलन।

राधे को क्या रोज़-रोज़ लकड़ी लेने की आवश्यकता पड़ा करती है ! अभी उसके यहाँ से लकड़ी लिये हुए मुश्किल से पन्द्रह दिन हुए होंगे।

किन्तु वह मृगाक्षी क्या जाने कि राधे को उसके यहाँ से लकड़ी लिये हुए अभी इतने कम दिन हुए हैं। क्या उसके यहाँ दिनों की नाप का कोई हिसाब रहता है? और दिनों का हिसाब कोई रख भी ले, किन्तु उस हिसाब की उपेक्षा का हिसाब कौन लगाने बैठता है!

राधे तो उसकी ओर देखकर ऐसा विमूढ़ हो गया, जैसे कोई स्वप्न-भङ्ग हो। बोला—लकड़ी! ल—क—ड़ी तो अभी...। अच्छा ले लूँगा। अच्छी, एकदम सूखी है न?

"सूखी है बाबू, एकदम सूखी।" कहती हुई, वह वहाँ से तुरन्त उठकर अपने झोंपड़े को चल दी।

सूखी लकड़ी! हाँ, सूखी लकड़ी ही है वह। उसके जीवन के आम्रतरु में न यष्टि है, न किशलय। मञ्जरियों की कौन कहे! कितने पथिक उसके निकट से आ-आकर चले गये, कितने पक्षी उसके निरभ्र अम्बर में नित्य उड़ते रहते हैं! किन्तु इससे क्या? वह सूखी लकड़ी जो है।

(२)

गङ्गा-तट पर कुछ झोंपड़े हैं। बाँस के टट्टरों के उनके दरवाज़े; बहुत कम ऊँची, मिट्टी की दीवालों पर, साधारण-से दलान की छतें और कहीं-कहीं छप्पर। पावस में जब पानी बढ़ आता है, तब ये झोंपड़े दो-हो-चार दिनों में उजड़ जाते हैं। इतने ही अन्तर से वहाँ नावें चलने लगती हैं! छप्पर और टट्टर तो उठा लिये जाते हैं। किन्तु छतें और दीवालें?

वे जल-धारा की अनुगामिनी बनती हैं, उनमें आत्मसात् हो जाती हैं! फलतः जहाँ मनुष्य और उसकी कामना हँसती-खेलती है, वहाँ बात की बात में अनन्त जल-प्लावन देख पड़ता है। उसमें नाना प्रकार के जल-जन्तु लहराने लगते हैं! कार्तिकी पूर्णिमा के बाद उसी जाह्नवी-कूल पर वे झोंपड़े फिर से बस जाते हैं। मालूम नहीं, कितने दिन से, यही क्रम चला आया है!

इन्हीं झोंपड़ों में से एक में रहती है यह 'लकड़ीवाली'।

लेकिन उसका यह नाम तो राधे ने उसके व्यवसाय के अनुसार रख लिया है। असली नाम क्या है, उसने कभी जानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। आज वह विधवा है और अवस्था भी उसकी तीस पार कर आई है। राधे जब इस मुहल्ले में रहने को आया था और दूसरे ही दिन जब उसको लकड़ी खरीदने की आवश्यकता पड़ी थी, तब एकाएक, उसको, अपनी टाल के पास से जाता हुआ देख-कर, जिस किसी ने टोंककर उससे पूछा था—लकड़ी लेबो बाबू?—

—वह यही लकड़ीवाली थी और तब भी वह विधवा थी।

किन्तु इस मुहल्ले में आये हुए राधे को कितने दिन बीत गये और अल्हड़ जिज्ञासा-भरे प्रश्न का वह क्षण, सुदूर अतीत में घुल-मिलकर, कितना धुँधला पड़ गया!

ग्यारह वर्ष—हाँ, ग्यारह वर्ष !

माना कि राधे वर्षों का मूल्य आँकने में कोई उत्साह नहीं रखता। वे आते हैं और चले जाते हैं। उनके आने का नवल आज, जैसा धुले तरु-पल्लव-सा वाचाल प्रतीत होता है, कल के भविष्य में, वह भी, धूमिल अतीत बनकर, झञ्झा के साथ उड़ा-उड़ा फिरता है! किन्तु प्रश्न तो यह है कि ग्यारह वर्षों का यह अन्तर भी जिस प्रश्न के मर्म-स्पर्श को शिथिल न बना सका, आज वह राधे के हृत्तल में कम्पित हो-होकर सर्वथा मूक कैसे बना रह सकता है!—जब कि लकड़ीवाली तब भी विधवा थी और आज भी विधवा है!

—किन्तु वैधव्य के साथ कैसा तब और कैसा अब ?

—बात यह है कि लकड़ीवाली यदि चाहती, तो 'अब' को लेकर विधवा नहीं भी रह सकती थी। वह जाति की निषाद जो है। इन लोगों में विधवा-विवाह का ऐसा कोई निषेधात्मक प्रतिबन्ध नहीं है।

इधर राधे जगत् से विरक्त रहकर नहीं चलता। क्यों विरक्त रहे वह? आँखें और उनके भीतर अध्ययनशीलता रखकर वह विरक्त क्यों बने? तभी वह, जो सामने आता है, उसे देखता-टटोलता हुआ चलता है। अपनी ओर से वह उत्सुक नहीं बनता। उतना ही देखता, स्पर्श और ग्रहण करता है, जितना उसके सामने आ पड़ता है।

इस लकड़ीवाली को भी राधे ने कुछ इसी तरह देखा है।

(३)

आगे-आगे वह चल खड़ी हुई, पीछे-पीछे चला राधे। किन्तु थोड़ा चलकर भी वह और चल न सका। लकड़ीवाली जब ज़रा और आगे निकल जायगी, तब वह जायगा। जल्दी वह कैसे जाय! न, वह इतनी जल्दी नहीं जायगा। वह न तो पथिक है—न पत्ती।

"तो यह राधे कौन है?"

"है राधे, तुम्हारा सिर! पाजी कहीं के!"

वह गई, वह। हाँ, चली गई।

राधे भी चल दिया।

"तो राधे, इस विराम का अर्थ क्या है?"

"विराम का अर्थ! हाँ, है क्यों नहीं!—वह सूखी लकड़ी।"

"विराम का जो अर्थ है, वही इस मन्द गति का भी है, राधे। गति भी मन्दता को प्राप्त होकर यहाँ विराम बन गई है।"

"यह परिहास नहीं है। व्यंग्य भी नहीं है। यह तो दाह है—दाह!"

"दाह है!—किसका?"

"पूछते हो किसका! दुष्ट कहीं के! मेरे सामने बनने

आये हो! जानते नहीं, यह दाह है एक युग से चले आ रहे संस्कार-जन्य रूढ़िवाद के ज्वालामुखी में लोललोचना नारी के स्वर्णिम उल्लास का! यही वह दाह है जिससे झुलस-झुलसकर, तितर-बितर होकर, हिन्दू-जाति का सारा उत्कर्ष, उसका सारा जीवन, विधर्मियों के हिंसक नख-दन्त का शिकार बना है!"

आन्दोलित राधे तब उस टाल के पास जा पहुँचा।

एक मज़दूर लकड़ी चीर रहा है। भारी कुल्हाड़ी बेंट-समेत चक्कर बनाती हुई उसके सिर के ऊपर जाती और लौट-कर, ज़ोर के साथ, लकड़ी के कुन्दे भाल को फाड़ देती है। दो-चार हलके-भारी आघात और होते हैं, और बात-की-बात में चार-छः चैले सामने बिखरे मिलते हैं।

राधे ने तब एक चैले को उठाकर देखा। देखा, लकड़ी सूखी ज़रूर है।

लकड़ी ने—हाँ, लकड़ी-रूप जो लड़की है उसने—दो मज़दूरनियाँ बुला लीं। उनको अलग-अलग लकड़ी तौलकर, वह धूप में अलग जा बैठी। मज़दूरनियाँ अपनी-अपनी लकड़ी इकट्ठा कर-करके गट्ठर बनाने लगीं।

लकड़ीवाली का बूढ़ा बाप है और वह। बस। तीसरा कोई नहीं है। और बाप, बूढ़ा तो है ही; बीमार भी रहता है। दमा का मर्ज़ है उसे। वह एक ओर चारपाई डाले, धूप

में, तकियों पर सिर रखे, औंधा बैठा है। खाँसी आती है, तो उसकी पसलियाँ धौंकनी बन जाती हैं।

राधे ने इस ओर भी देखा। देखा, समूचा पेड़ का पेड़ सूख गया है!

मज़दूरनियों ने परस्पर के सहयोग से गट्ठर बाँध लिये। एक ने दूसरी को, उसका गट्ठर, उठवा भी दिया। पर अब दूसरी का गट्ठर कौन उठवाये? तब वह लड़की ही उठ खड़ी हुई।

राधे खड़ा-खड़ा कुछ देख रहा था—कुछ सोच रहा था। एकाएक गट्ठर उठवाने के लिए उस लड़की को आता देखकर वह घूमकर खड़ा हो गया। फिर खड़ा भी न रहकर, रुक-रुककर, टहलने लगा।

उधर लड़की ने मज़दूरिन का गट्ठर उठवा दिया। दोनों मज़दूरिनें अपने-अपने गट्ठर लेकर एक ओर चल दीं।

लकड़ीवाली बोली—लकड़ी गई बाबू।

और स्वप्नाविष्ट-सा राधे उसकी ओर देखकर बोला—अच्छा!

किन्तु उसके अन्तराल में, अपने आप, कोई कह उठा—लकड़ी गई कहाँ?—वह तो चिर रही है!

(४)

सन् १९३६—

राधे के यहाँ इस बार लकड़ियाँ गीली आ गईं। नौकर,

मालुम नहीं क्यों, इस तरह अन्धा बन जाता है कि देख-भालकर चीज़ नहीं लाता !

अर्जुन बोला—बाबू, अब के लकड़ियाँ बहुत गीली आई हैं। चूल्हा फूँकते-फूँकते अम्मा की आँखें लाल हो गईं। यह नौकर....।

अर्जुन अभी अपनी बात पूरी कर भी नहीं पाया था कि दौड़ी-दौड़ी अनू (अनुसुइया) भी आ पहुँची। बोली—बाऊ, अले ओ बाऊ, लकड़ियाँ ईला एँ। अम्मा आती एँ।

एक ओर उलझन—दूसरी ओर कविता।

'मेरी अनू तो 'रानी बिटिया' है' कहते हुए राधे ने उसकी चुम्मी ली। फिर वह सूखी लकड़ी, ख़ुद देखकर, लाने के लिए चल दिया।

घूमता-फिरता हुआ राधे एक झोंपड़े के पास आकर खड़ा हो गया। वहाँ लकड़ी चीरी जा रही थी। राधे बोला—मुझे सूखी लकड़ी चाहिए।

लकड़ीवाली ने ढेर की ओर सङ्केत कर कहा—है तो यह।

वह इन दिनों बीमार है। चारपाई से लग गई है। अकेली तो वह यों भी थी। किन्तु पिता तो था उसका। माना कि बीमार रहता था; किन्तु था तो वह।—चल तो रहा था। कभी-कभी जब भला-चङ्गा हो जाता, तो ख़ूब

मोल-तोल करके, अच्छी तरह घुमा-फिराकर, लकडी तो ख़रीद लाता था। किन्तु इधर अनेक वर्षों से वह भी नहीं है। यही सब क्षणभर में ही लक्ष करके राधे ने जो लकड़ो के उस ढेर की ओर देखा, तो कह दिया—यह तो गीली जान पड़ती है। ऐसी लकड़ी तो आज नौकर, मालूम नहीं कहाँ से, बहुत-सी ले आया है। मुझे तो एकदम सूखी लकड़ी चाहिए—ऐसी, जिसे फूँकने की भी ज़रूरत न पड़े—जो एक बार जलकर फिर बराबर जलती ही रहे। अब भी जो गीली लकड़ी ले जाऊँगा, तो घरवाली जली-कटी न सुनायेगी !

वह उठ बैठी। बोली—बहू ?

राधे ने कह दिया—हाँ।

वह तब चुप रह गई।

और राधे उसकी आँखों को जैसे इकटक देखता रह गया। "वे इतनी जल्दी सजल क्यों हो आईं ?"—वह सोचता, किन्तु सोच न पाता।

—'ऊँह ! तुम भी राधे तिनके-सी ज़रा-ज़रा-सी बात को भी इतना महत्त्व देते हो !' उसके मन में आया ही था कि वह चल खड़ा हुआ।

उसी क्षण वह बोली—'जाते कहाँ हो बाबू ? सूखी लकड़ी लेते जाओ।' साथ ही उसने लकड़ी चीरनेवाले

मज़दूर से कहा—कोठरी में जितनी लकड़ी निकले, बाबू को तोल दो।

रमज़ानी ने अपना काम बन्द कर दिया। वह कोठरी से लकड़ी निकाल-निकालकर बाहर फेंकने लगा।

उसी क्षण राधे ने सुना—लकड़ीवाली कह रही है—'थोड़ी-सी ही होगी। अपने लिए रख छोड़ी थी।' उसने लक्ष किया, इस कथन के साथ उल्लास कितना है! उसके म्लान मुख पर भी यह दीप्ति कैसी है!

वह बोला—और अपने लिए?

"अपने लिए कौन जाने कब ज़रूरत पड़े, बाबू! तुम ले जाओ —बहू को जिसमें तकलीफ़ न हो। मेरा क्या ठीक?"

—उसने कहा है—मेरा क्या ठीक?

—हाँ, ठीक तो कहा है। अब उसका क्या ठीक?

रमज़ानी जब गट्ठर बाँध चुका, तो लकड़ीवाली ने कहा—पूरी आठ पंसेरी निकली बाबू। छः आने पैसे की।...अब इसे तुम्हीं देते भी आओ रमज़ानी। बाबू पास ही कहीं रहते हैं। तुम्हारा काम भी अब पूरा हो गया। एक ही कुन्दा तो चीरने को रह गया है।

राधे ने, छः आने पैसे, लकड़ीवाली के निकट जाकर उसके हाथ पर रख दिये।

तदनन्तर ।

मनभर लकड़ी का गट्ठर सिर पर लादे हुए आगे-आगे रमज़ानी चला; पीछे-पीछे भारी हो रहे मन को लेकर राधे ।

—क्या कहा था ?—"थोड़ी-सी ही होगी, अपने लिए रख छोड़ो थी !"

—ठीक तो है। लकड़ी सब गिर गई है। केवल एक कुन्दा शेष है ! के...व...ल...!